हसरत मोहानी

अस्तर पर मूर्तिकला के प्रतिरुप में राजा शुद्धोदन के दरबार का वह द श्य, जिसमें तीन भविष्यवक्ता भगवान बुद्ध की माँ–रानी माया के स्वप्न की व्याख्या कर रहे हैं। इसे नीचे बैठा लिपिक लिपिबद्ध कर रहा है। भारत में लेखन–कला का संभवत· सबसे प्राचीन चित्रलिखित अभिलेख।

नागार्जुनकोण्डा, दूसरी सदी ई.

सौजन्य : राष्ट्रीय संग्रहालय, नयी दिल्ली

अनुक्रम

1
जीवन-वृत्त

जन्म

उत्तर प्रदेश के उन्नाव ज़िले में एक बस्ती मोहान है जो हमेशा से विद्या और ज्ञान के लिए मशहूर रही है। यह क़स्बा लखनऊ और कानपुर के बीच सई नदी के किनारे एक ख़ुशगवार जगह पर आबाद है। इस बस्ती के क़रीब सई नदी पर एक बड़ा पुल है जिस पर बुर्जियाँ-सी बनी हुई थीं। यह पुल महाराजा नवल राय कायस्था ने बनवाया था जो नवाब सफ़दरजंग के युग में वज़ीर थे। सैयद महमूद नैशापुरी अपने वतन नैशापुर से 1214-15 ई. में, सुल्तान शम्सुद्दीन इल्तुतमिश के युग में हिन्दुस्तान आए और मोहान में बस गए। हसरत इन्हीं के वंशज थे। सैयद महमूद नैशापुरी के दो लड़के थे–सैयद मुन्तख़ब और सैयद जमालुद्दीन। हसरत का ख़ानदान सैयद मुन्तख़ब की औलाद से है। उन्होंने नैशापुर से अपने सम्बन्ध का ज़िक्र अपने एक शेर में किया है :

क्यूँ न हों उर्दू में हसरत हम 'नज़ीरी' की नज़ीर
है तअल्लुक़ हम को आख़िर ख़ाके.नैशापूर से

मोहान में पुराने ढंग के मकान बने हुए थे। इन्हीं में से एक बड़ा-सा मकान हसरत मोहानी की नानी का था जो बारादरी कहलाता था। इसी मकान में 1881 ई. में हसरत पैदा हुए[1] और उनके बचपन का ज़माना इसी की चहारदीवारी में नानी के साए में गुज़रा। मकान में बहुत जगह थी। बड़े-बड़े दालान और कई बड़े-बड़े कमरे थे। मकान ख़ास बस्ती के अंदर था जहाँ उनके कुछ रिश्तेदार भी रहते थे। उनके मकानात भी बारादरी के क़रीब-क़रीब बने हुए थे। ये रिश्तेदार यहाँ आते-जाते रहते और घर में खूब चहल-पहल बनी रहती थी।

हसरत का पूरा नाम 'सैयद फज़लुल हसन', पिता का 'सैयद अज़हर हसन' और दादा 'सैयद महरुल हसन' था। 'अज़हर हसन' के चार लड़के और तीन लड़कियाँ पैदा हुईं।[2] लड़कों के नाम सैयद रूहुल हसन, सैयद फज़लुल हसन, सैयद करीमुल हसन और सैयद मुबीनुल हसन थे और लड़कियों के सलीमतुन्निसा, नसीबतुन्निसा और मनीबतुन्निसा। इनमें सैयद करीमुल हसन और सलीमतुन्निसा का निधन बचपन ही में हो गया था। हसरत की माँ का नाम शहर बानो था जिन्हें उर्दू और फ़ारसी की अच्छी जानकारी थी। वह अपने बच्चों के साथ मोहान

में रहती थीं। नानी के पास रहने से सब बच्चे नानी से बहुत मुहब्बत करते थे, मगर नानी को सबसे ज़्यादा प्यार हसरत से था। हसरत इस ऐतबार से बड़े खुशकि़स्मत थे कि उन्हें नानी और माँ दोनों का प्यार मिला। इन दोनों महिलाओं की साहित्यिक और काव्यात्मक अभिरुचि ने ही हसरत को शेरो-शायरी की तरफ़ प्रवृत्त किया। नानी के कहने पर हसरत ने नसीम देहलवी के कृतित्व का अध्ययन किया। ये दोनों महिलाएँ शिक्षित थीं। हसरत को इस बात का गर्व था कि उनके घराने की औरतें पढ़ी-लिखी थीं। उस ज़माने में चारों तरफ़ जहालत का दौर-दौरा था। यही वजह है कि हसरत के व्यक्तित्व-निर्माण में उनकी नानी और माँ का बहुत बड़ा दख़ल था।

घर का माहौल

हसरत के घर का माहौल धार्मिक था। सुबह सवेरे उठकर सब मर्द और औरतें पहले नमाज़ पढ़ते, कुरान शरीफ़ का पाठ करते, उसके बाद तख़्त पर सब जमा हो जाते और वहीं सब नाश्ता करते। हसरत की माँ अपने सब बच्चों को चीनी के प्यालों में दूध और उसमें बासी चपाती मलकर देतीं, बाद में शक्कर डालकर चमचे से चलातीं। इस तरह सुबह का नाश्ता सबको लुत्फ़ देता। पूरे मोहान में यह बात मशहूर थी कि शहर बानो के यहाँ नाश्ता बहुत सवेरे हो जाता है। हसरत धार्मिक **ऐतबार से हनफ़ी** थे और क़ादरी मत को मानते थे। उन्होंने खुद कहा है कि मैं परंपरावादी सुन्नी और सूफ़ी हूँ। उनका पूरा ख़ानदान शाह अब्दुर्रज़्ज़ाक फ़िरंगी महल का अनुयायी था। हसरत भी बचपन ही में शाह साहब के मुरीदों के हलक़े में दाख़िल हो गए थे। उनके निधन के बाद वह उनके बेटे और उत्तराधिकारी मौलाना अब्दुल वहाब के मुरीद बने।

लड़कपन

हसरत का लड़कपन खेलकूद में गुज़रा। ज़्यादातर उनको वही शौक़ थे जो उस वक़्त के उस उम्र के बच्चों को होते थे। कहानियाँ सुनना उनका दिलचस्प मशग़ला था। ऐसी कहानियाँ बड़ी दिलचस्पी से सुनते जिनमें बहादुरी और पराक्रम की बातें हों। ख़ासकर युद्ध के प्रसंग सुनकर बहुत प्रभावित होते। उनका यह शौक़ अरसे तक क़ायम रहा। अलीगढ़ से जब छुट्टियों में घर वापस जाते तो घर के बूढ़े मुलाज़िम से कहानियाँ सुना करते।

हसरत तैराकी ख़ूब जानते थे और उसमें बड़ी महारत पैदा कर ली थी। इस फ़न में वह अपने नाना के शागिर्द थे। उनके नाना बड़े उम्दा तैराक थे। क़स्बे के बहुत-से बच्चों ने उनके नाना से तैरना सीखा।

हसरत को पतंगबाज़ी का भी बहुत शौक़ था। उस वक़्त सस्ते का ज़माना

था, हर चीज़ आसानी से मिल जाती थी। दो पैसे में तीन पतंगें आती थीं। पतंग के लिए माँझा ख़रीदकर लाते और अपने मकान की छत पर पतंग उड़ाते। पतंगबाज़ी में ऐसी महारत पैदा की कि क़स्बे के तमाम बच्चों को पीछे छोड़ दिया। उनकी बेटी के बारे में ख़ानदान भर में मशहूर था कि वह अच्छी पतंग उड़ाती थीं। शायद यह शौक़ उनको अपने पिता से विरासत में मिला था।

बचपन में अपने साथियों के साथ बस्ती में इधर-उधर घूमते। बस्ती के बाहर कुछ बुर्जियाँ-सी बनी हुई थीं। इन बुर्जियों को पवित्र दरगाहों का दर्जा हासिल था। तक़रीबन हर बृहस्पतिवार को हिंदू और मुसलमान श्रद्धालु मिठाइयों के दोने लाते और उन पर चढ़ाते और मनौती माँगते। हसरत अपने एक दोस्त अकबर हसन के साथ शाम ही से वहाँ पहुँच जाते और जब लोग अपनी मुरादें माँगकर वापस लौटते तो ये दोनों चुपके से वहाँ पहुँच जाते और मिठाइयों से भरे दोनें उठा लाते और नदी के किनारे बैठकर सब मिठाइयाँ खा जाते।

आरंभिक शिक्षा

हसरत की आरंभिक शिक्षा पुराने तरीक़े पर हुई। पाँच साल की उम्र में मोहान के मियाँ जी सैयद ग़ुलाम अली के मकतब में तालीम के लिए बिठाए गए। यह मदरसा ज्ञानार्जन के एक अच्छे केंद्र के रूप में क़स्बे में मशहूर था। पहले क़ुरान शरीफ़ पढ़ा, उसके बाद फ़ारसी और अरबी की तालीम हासिल की। उस वक़्त मकतब के पाठ्यक्रम में **सिकंदरनामा, बहादुर दानिश, अख़्लाके-मोहसिनी** और **इन्शा-ए अबुल फ़ज़ल** जैसी साहित्यिक और शिक्षाप्रद किताबें शामिल थीं। हसरत ने यह सब किताबें छोटी उम्र में पढ़ डालीं। मकतब से मिडिल तक की शिक्षा मोहान में हासिल की। मिडिल का एक इम्तेहान मोहान से दिया और दूसरा छलोतर से, और दोनों में अव्वल आए। तमाम सूबे में अव्वल आने की वजह से वज़ीफ़ा हासिल किया। उस ज़माने में मोहान में सिर्फ़ मिडिल तक की तालीम का इन्तज़ाम था। इसलिए मैट्रिक की तालीम के लिए फ़तहपुर, जो वहाँ से बहुत क़रीब था, भेजे गए और वहाँ के गवर्नमेंट हाई स्कूल में दाख़िल हुए। इस स्कूल से 1898 ई. में मैट्रिक का इम्तेहान प्रथम श्रेणी में पास किया और पूरे ज़िले में अव्वल आए। फ़तहपुर में अंग्रेज़ी तालीम के बाद जो वक़्त मिलता उसमें मौलाना सैयद ज़हूरुल इस्लाम और मौलाना नियाज़ फ़तहपुरी के पिता मौलाना मुहम्मद अमीर ख़ाँ से फ़ारसी[3] पढ़ते। शिक्षाप्राप्ति के दौरान हसरत ने एक क्लब की स्थापना भी की थी जिसमें उनके ख़ास यार-दोस्त जमा होते और शेरो-सुख़न की महफ़िल जमती थी। उस ज़माने में फ़तहपुर में सिर्फ़ मैट्रिक तक की तालीम का इन्तज़ाम था। हसरत को आगे तालीम हासिल करने का बहुत शौक़ था।

अलीगढ़ में शिक्षा

उस ज़माने में अलीगढ़ शिक्षा का ऐसा केंद्र था जिसकी शोहरत दूर-दूर तक थी। यह सब सर सैयद अहमद खाँ की बरसों की मेहनत का फल था कि लोग उनके कारनामों को इज़्ज़त की निगाह से देखते थे। हसरत भी पढ़ने के लिए अलीगढ़ जाने के इच्छुक थे, मगर उनके पिता उन्हें बाहर भेजने के लिए राज़ी न थे। इसके लिए पिता को मनाया गया मगर कोई खा़स असर न हुआ। जब कोई शक्ल नज़र न आई तो उन्होंने अपने उन मौलवी साहब से कोशिश कराई जो उन्हें अरबी-फ़ारसी पढ़ाने घर पर आते थे। उनके आग्रह पर पिता ने इजाज़त दे दी। उन दिनों अलीगढ़ जाना योरप जाने से कम न समझा जाता था। डॉक्टर सर ज़ियाउद्दीन अहमद उन दिनों एम.ए.ओ. कॉलिज में गणित के प्रोफेसर थे। उन्होंने ग़ज़ट में जब पढ़ा कि हसरत मोहानी पूरे सूबे में अव्वल आए हैं तो उन्होंने अलीगढ़ आने की दावत दी। चुनाँचे हसरत अलीगढ़ में उच्च शिक्षा की तैयारी में लग गए। विदा करने का वक़्त आया तो घर में खूब रोना-धोना हुआ। ग़र्ज़ हसरत के बाजू पर इमाम ज़ामिन बाँधकर ख़ुशी-ख़ुशी रुख़सत किया गया। अलीगढ़ पहुँचकर वह बोर्डिंग हाउस में दाख़िल हुए। उनकी चाल-ढाल और लिबास कुछ इस तरह की थी कि अलीगढ़ के छात्र उनको देखकर हैरत में रह गए। यह वो ज़माना था जब अलीगढ़ की शिक्षा-दीक्षा की ख्याति हिंदुस्तान के अलावा विदेशों में भी फैल चुकी थी और मुसलमानों में नई रौशनी की लहर और बौद्धिक विकास के लिए यह कॉलिज दूर-दूर तक मशहूर हो चुका था। सरकारी नौकरियों के लिए इस कॉलिज की डिग्री ज़रूरी हो गई थी। हसरत अलीगढ़ में वध के शुरफ़ा (अभिजनों) का पारंपरिक लिबास पहने और साथ में अवध की पुरानी रिवायत का पानदान हाथ में लिये पहुँचे तो वहाँ के छात्रों ने उन्हें इस लिबास में देखकर ख़ालाजान का ख़िताब दिया। मगर ख़ालाजान ने अपने भांजों की क़तई परवाह न की, बल्कि वह अपने कामों में लगे रहे।

हसरत ने 1903 ई. में अलीगढ़ से बी.ए. किया। यह मोहान के पहले ग्रेजुएट थे, गो उनसे पहले जस्टिस सैयद अमीर अली मोहानी ग्रेजुएट हो चुके थे, मगर वह हिंदुस्तान से बाहर विलायत चले गए और वहीं बस गए। हसरत ने बी.ए. के बाद एल.एल.बी. के पहले साल में दाख़िला लिया। दाख़िले के बाद उन्होंने वज़ीफ़े के लिए अपनी दरख़्वास्त प्रिंसिपल के पास भेजी। उस वक़्त कॉलिज के प्रिंसिपल मॉरिसन थे। मॉरिसन चूँकि उनसे पहले से ख़फ़ा थे इसलिए वज़ीफ़े की दरख़्वास्त रद्द कर दी। हसरत को इससे बड़ी मायूसी हुई और उन्होंने विद्यार्थी जीवन को हमेशा के लिए ख़ैरबाद कहा।

हुलिया

हसरत का हुलिया कुछ अजीब तरह का था : छोटा-सा क़द, पतला बदन, गेहुआँ रंग, गोल चेहरा और उस पर मिटे हुए चेचक के दाग़ थे। दाढ़ी रखते थे। माथा ऊँचा, सर पर कलाबत्तू की टोपी और पुराने ढब का चार ख़ाने का अँगरखा और शरीअत के हिसाब का तंग पाजामा जिसके पाँयचे टख़नों से ऊँचे रहते थे, उनके हुलिये में इज़ाफ़ा करता था। आँखों पर छोटी ताल की ऐनक लगाते थे और हाथ में छतरी रहती थी। इस हुलिये में वह सादगी और आनबान थी कि ज़िंदगी भर इसमें मस्त और खुश रहे, कभी किसी की परवाह न की। अंग्रेज़ी लिबास उन्होंने कभी नहीं पहना, बल्कि आख़िर वक़्त की कोई विलायती चीज़ इस्तेमाल न की।

'उर्दू-ए मुअल्ला' का विमोचन

अलीगढ़ से बी.ए. करने के बाद हसरत ने नौकरी नहीं की बल्कि पत्रकारिता को अपनी जीविका बनाया और **उर्दू-ए मुअल्ला** नाम से एक मासिक पत्रिका जारी की। उन्होंने शहर में मिस्टन रोड पर एक मकान किराये पर लिया और वहीं रहने लगे। यहीं से 1 जुलाई 1903 से **उर्दू-ए मुअल्ला** का प्रकाशन शुरू हुआ। मिस्टन रोड का नाम बाद में रसेलगंज रख दिया गया जो आज तक मशहूर है। यहाँ उस ज़माने की अब भी कुछ इमारतें बाक़ी हैं। इस पत्रिका के विमोचन से उनका पत्रकार-जीवन शुरू हुआ। हसरत ने अपने राजनीतिक जीवन और पत्रकारिता का आरंभ अलीगढ़ से किया, इसकी अहम वजह यह नज़र आती है कि अलीगढ़ उस वक़्त हिंदुस्तान और विदेश में मशहूर था और अलीगढ़ कॉलिज की राजनीतिक और ऐतिहासिक अहमियत से सब परिचित थे, और इस कॉलिज के शिक्षाप्राप्त लड़के ऊँचे सरकारी ओहदों पर मुलाज़िम होते थे।

हसरत के ज्ञानात्मक और साहित्यिक जीवन का आरंभ भी पत्रकारिता से हुआ। यह अलग बात है कि उन्होंने जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अपनी कामयाबी के झंडे गाड़ दिए थे और उनकी पत्रकारिता के अमर नुकूश कभी नहीं मिटाए जा सकते। उन्होंने पत्रकारिता को ज़बान दी, आदाब सिखाए, शाइस्तगी के उसूलों और शेरो-अदब से परिचित कराया। **उर्दू-ए मुअल्ला** के प्रकाशन के बाद उर्दू में **अल-नाज़िर, दकिन रिव्यू, कश्मीर दरपन, ज़माना, निगार** और **उर्दू** जैसी स्तरीय साहित्यिक और शोधपरक पत्रिकाएँ निकलने लगीं, लेकिन हसरत के लिए सर सैयद का **तहज़ीबुल अख़लाक़, मआरिफ़** (अलीगढ़), **मख़ज़न** (लाहौर) और **दिलगुदाज़** (लखनऊ) नमूने के लिए मौजूद थे। इन्हीं रिसालों

(पत्रिकाओं) से प्रभावित होकर हसरत ने अपनी पत्रकारिता का चिराग़ जलाया था। **उर्दू-ए मुअल्ला** एकमात्र पत्रिका थी जिसने शिक्षित नौजवान तबक़े के ज़हनों को बेदार किया, उनमें राजनीतिक और साहित्यिक चेतना पैदा की। इस तरह उर्दू पत्रिकाओं के लिए भी रास्ता खुल गया लेकिन हसरत के **उर्दू-ए मुअल्ला** को एक ख़ास अहमियत हासिल थी। उसने अपने रूप और सामग्री की दृष्टि से एक प्रतिमान स्थापित किया और साहित्यिक हलक़ों में अपने लिए प्रमुख और नुमायाँ जगह बना ली थी। हालाँकि यह मटियाले रंग के मामूली काग़ज़ पर छपता तथा और किताबत था छपाई भी मामूली दर्जे की होती थी। शुरू में 24 और 48 पृष्ठ का निकलता था मगर बाद में पृष्ठ संख्या भी कम हो गई। हसरत को कभी-कभार पेपरमैन और संगसाज़ी (लिथोग्राफ़िक छपाई में लिथो पत्थर पर अशुद्धियॉ ठीक करना) के काम भी ख़ुद अंजाम देने पड़ते। इस तरह कभी-कभी उन्हें पर्चे की छपाई के सभी चरण ख़ुद ही पूरा करने पड़ते, अलबत्ता उनकी बीवी उसकी साहित्यिक सहयोगी रहतीं। **उर्दू-ए मुअल्ला** तीन बार निकला और बंद हुआ, इसलिए उसको तीन कालों में इस तरह विभक्त किया जा सकता है :

पहला दौर : जुलाई 1903 से मई 1908 तक

दूसरा दौर : अक्तूबर 1909 से अप्रैल 1913 तक

तीसरा दौर : जनवरी 1925 से मार्च 1942 तक

जब **उर्दू-ए मुअल्ला** के बुरे दिन आए और यह बर्तानवी हुकूमत के अत्याचार और प्रतिशोध की ज़द में आ गया तो उन्होंने एक त्रैमासिक पत्रिका **तज़किरतुश्शुअरा** (कवि-चर्चा) निकाली, मगर 1920 में यह भी बंद हो गई। इसके बाद एक अख़बार **मुस्तक़िल** 1928 में जारी किया जो 1929 तक दैनिक के रूप में और 1930, 1931 और 1933 में दो दिवसीय, तीन दिवसीय और साप्ताहिक अख़बार के रूप में निकलता रहा। जनवरी 1932 से यह मासिक हो गया और 1936 से यह **उर्दू-ए मुअल्ला** के साथ परिशिष्ट के तौर पर प्रकाशित होने लगा।[4] इस तरह हसरत ने अपनी ज़िंदगी में तीन पर्चे (पत्र) निकाले लेकिन उनमें **उर्दू-ए मुअल्ला** ही एकमात्र रिसाला था जिसने पुराने साहित्यिक सरमाये को ज़िंदगी दी। अगर हसरत पुरानी साहित्यिक थाती की तरफ़ ध्यान नहीं देते और उन पर लेख लिखकर उर्दू दुनिया से परिचित न कराते तो एक तरफ़ तो यह सरमाया ख़त्म हो जाता और दूसरी तरफ इसके उपयोगी पक्ष की ओर भी ध्यान नहीं देता।

शादी

हसरत की शादी निशातुन्निसा बेगम से 1901 में हुई। [5]बेगम के पिता का

नाम सैयद शब्बीर हसन मोहानी थ। उस वक़्त हसरत अलीगढ़ से एफ़ ए. के विद्यार्थी थे। पत्रिका शुरू करने के बाद वह अपनी बीवी को अलीगढ़ ले आए थे और रसेलगंज के उसी मकान में जहाँ से **उर्दू-ए मुअल्ला** प्रकाशित होता था, रहने लगे। निशातुन्निसा बेगम विदुषी महिला थीं और हसरत ही के ख़ानदान से उनका सम्बंध था। दोनों एक दूसरे से बड़ी मुहब्बत करते थे। हसरत कई बार जेल गए। उनके मुक़दमों की पैरवी अकेली बेगम हसरत ने की, किसी प्रियजन या रिश्तेदार से वह कभी मदद माँगने नहीं गईं। बेगम हसरत एक ख़त में लिखती हैं :

> "सख़्त अफ़सोस है कि आज मैं हस्बे.मामूल सुबह को हसरत से मिलने जेल गई, वहाँ से मालूम हुआ कि वह सात बजे सुबह को कहीं बाहर खुफ़िया तौर पर भेज दिए गए है- देखिए, खुदा पर भरोसा है। मालूम नहीं क्या मुकद्दर में है।"[6]
>
> "जिसका पुरसाने-हाल (हाल पूछने वाला) कोई नहीं होता, उसका मददगार अल्लाह तआला तो होता ही है। चुनाँचे मैंने कोशिश की या न की, ख़ुदा के फ़ज़्लो-क़रम से हसरत की अपील बग़ैर किसी वकील, बैरिस्टर के मंजूर हो गई और पेशी पहली जुलाई को मुक़र्रर है। अगर कोई पेशी के दिन गया तो गया, वरना जहाँ अब तक खुद ही सब कुछ किया कराया है यह भी मरहला तै कर लेंगे। ख़्वाह नतीजा कुछ भी हो।

बेगम हसरत के मुक़दमे की खुद ही पैरवी करतीं, घर का कामकाज भी करतीं, हसरत को जेल देखने भी जातीं, उनकी ख़ैरियत मालूम करतीं और उनको धीरज बँधातीं। शौहर-परस्ती की रिवायत इससे बेहतर दूसरी जगह मुश्किल से मिलेगी। हसरत मोहानी की जीवनी उस वक़्त तक पूरी नहीं हो सकती जब तक कि बेगम हसरत की जीवनी के प्रसंग शामिल न किए जाएँ। ख़्वाजा हसन निज़ामी ने उनकी बेगम को **मशाहीरे-हिंद** (भारत की मशहूर हस्तियाँ) में शामिल किया है। वह अपने एक मज़मून में उनके बारे में लिखते हैं

> "हसरत की बीवी मुसलमानाने-हिंद की औरतों में बड़ी वफ़ाशुआर और शौहरपरस्त औरत है। अय्यामे-बला (मुसीबत के वक़्त) में ऐसी वफ़ाशुआरी इस औरत से ज़ाहिर हुई जैसी सीताजी ने रामचंद्रजी के साथ की थी।"मौलाना मुहम्मद अली की राय बेगम हसरत के बारे में यह है :

"भाई हसरत से कह दीजिए कि बिरादरम, बावजूद हिम्मतो-इस्तक़लाल (साहस और मज़बूती) के तुम्हारा मर्तबा एक नहीफ़ुल.जस्सा (दुर्बल काया वाली) औरत से कम ही रहेगा जिसके सीने में बज़ाहिर तुमसे भी बड़ा दिल मौजूद था और जिसने तुम्हारी ग़ैर हाज़िरी में मुसलमानों को हिम्मतो.इस्तिक़लाल, जुर्रतो.-हौसले का वो सबक दिया जो तुम ख़ुद आज़ाद होकर न दे सकते थे, और जो शायद क़ैद होकर भी नहीं दिया।"[9]

निशातुन्निसा बड़ी बहादुर और हौसलेमंद औरत थीं। उनका निधन एक लंबी बीमारी के बाद 18 अप्रैल, 1937 को कानपुर में हुआ। वह 37 साल तक हसरत की जीवनसंगिनी रहीं। हसरत ने उनके निधन के बाद **उर्दू-ए मुअल्ला** में एक लंबा लेख लिखा। निम्नलिखित उद्धरण में वह उनकी खूबियों का ज़िक्र इस तरह करते हैं :

"खुदा गवाह कि राक़िम (इन पंक्तियों के लेखक) के इस क़ौल (बात) में ज़रा भी मुबालग़ा (अतिश्योक्ति) नहीं है कि ईसारो.-इन्किसार (त्याग व विनम्रता), इहया-ओ-ग़ैरत (लज्जा व आत्मसम्मान) मुहब्बतो.मुरव्वत, फ़हमो.फ़िरासत (बुद्धि व विवेक), जुर्रतो-सदाक़त (साहस ईमानदारी), अज़्मो-हिम्मत (दृढ़ प्रतिज्ञा), वफ़ा.-ओ.-सख़ा, हुस्ने-अक़ीदत (आस्था), सिद्क़े-नियतो-ख़ुलूसे-इबादत (पवित्र इरादा व सच्ची इबादत), हुस्ने. ख़ुल्क़ (अच्छा स्वभाव), सेहते-मज़ाक़ (सुरुचि सम्पन्नता),पाकी-ओ-पाकीज़गी, सब्रो-इस्तिक़लाल (धैर्य व मज़बूती) और सबसे बढ़कर इश्क़े-रसूल और मुहब्बते-हज़रते-हक़ के लिहाज़ से शायद मुसलमान औरतों बल्कि मर्दों में भी आज हिंदुस्तान में कम ऐसे अफ़राद (लोग) मौजूद होंगे जिनको हम बेगम हसरत से बेहतर तो क्या उनके बराबर क़रार दे सकें। इन तमाम बातों की तफ़सील एक जुदागाना तस्नीफ़ (अलग कृति) की तालिब है।"[10]

हसरत को अपनी जीवन संगिनी से बड़ी मुहब्बत थी। उनके निधन से उन्हें बहुत सदमा हुआ। ऐसी बीवी जो ज़िंदगी भर हसरत के कंधे से कंधा मिलाकर चलीं और उनके हर दुख में शरीक रहीं, बहुत कम देखने में आईं। ख़ुद बेग़म हसरत का वैवाहिक जीवन दोनों के लिए मिसाली हैसियत रखता था। इसका सबसे बड़ा सबब यह था कि निशातुन्निसा कोई अनगढ़ मूर्ति न थीं बल्कि मज़हबी तालीम और नमाज़-रोज़े के अलावा अरबी-फ़ारसी और उर्दू की उम्दा शिक्षा प्राप्त कर चुकी थीं, जिसकी वजह से उनकी समाजी ज़िंदगी में एक ठहराव पैदा हो गया था और उसने उनके राजनीतिक विवेक को जाग्रत किया।

उन्नीसवीं सदी के अंत और बीसवीं सदी के शुरू में जिन महिलाओं ने आज़ादी की लड़ाई में हिस्सा लिया उनकी सूची में बेगम हसरत का नाम ऊपर है।

औलाद

हसरत मोहानी की बीवी निशातुन्निसा से सिर्फ़ एक लड़की 1907 में पैदा हुई जिसका नाम नईमा है। उनकी शादी नुसरत मोहानी से हुई और ये दोनों आजकल कराची में अपने बच्चों के साथ रहते हैं। हसरत ने निशातुन्निसा के निधन के बाद दूसरी शादी 1938 में की और उनसे भी एक लड़की 1939 में पैदा हुई जिसका नाम हसरत ने ख़ालिदा रखा।

बेगम हसरत की तस्वीर

हसरत मोहानी के अनेक फ़ोटो नज़र से गुज़रे मगर बेगम हसरत का कोई फ़ोटो या तस्वीर देखने में नहीं आई। इस सिलसिले में स्व. अतीक़ सिद्दीक़ी ने उनके दोस्तों और बुज़ुर्गों से पत्र-व्यवहार किया था, जिनमें एक बुज़ुर्ग दाऊद साहब संदेलवी को, जिनकी उम्र उस वक़्त (18 नवंबर, 1981 को) अस्सी साल के लगभग थी, लिखा था कि "बेगम हसरत का कोई फोटो नहीं लिया गया और न उन्होंने कभी अपनी तस्वीर खिंचवाई लेकिन दिल्ली में औरतों के एक ग्रुप में उनकी एक तस्वीर मौजूद है। 18 दिसंबर, 1917 में ख़वातीन का एक वफ़्द (औरतों का प्रतिनिधमंडल) वाइसराय-हिंद से मिला था जिसने औरतों के हुक़ूक़ (अधिकारों) के सिलसिले में कुछ मुतालबात (माँगें) किए थे। इस वफ़्द का ग्रुप फ़ोटो आल इंडिया वीमेन्स कान्फ्रेंस, नई दिल्ली के दफ़्तर में मौजूद है। इस ग्रुप में मिसेज़ एन. दलवी, बेगम हसरत मोहानी, डॉक्टर मिस एन. एम. जोशी, मिसेज़ जनारा दास, मिसेज़ चंद्रशेखर अय्यर, मिसेज़ एस. गुरुस्वामी चैती, मिसेज लज़ूरास, मिसेज़ सरोजिनी नायडू, मिसेज बेनेट वग़ैरा शामिल हैं। इस तस्वीर की दरियाफ़्त डॉक्टर ख़लीक़ अंजुम ने की है, मैं उनका शुक्रगुज़ार हूँ कि उनकी वजह से मुझे ये तस्वीर देखने को मिली।

स्वाभिमान

हसरत बड़े स्वाभिमानी इन्सान थे। उन्होंने बड़ी से बड़ी ताक़त का पौरुष के साथ मुक़ाबला किया और अपनी ख़ुदी का कभी सौदा नहीं किया और न उस पर आँच आने दी। उन्होंने इसी ख़ुदी और ग़रीबी में रहकर शायरी, पत्रकारिता और राजनीति में नाम पैदा किया। अमीरी के चोंचलों से हमेशा दूर भागते रहे फ़क़ीरी को सीने से लगाए रखा और हमेशा दौलत व शोहरत से निर्लिप्त रहे। मिज़ाज में सादगी इतनी समायी हुई थी कि हमेशा उसमें मगन रहे और कभी अपनी बदहाली का शिकवा ज़बान पर न लाए।

पढ़ने-लिखने का शौक़

अध्ययन का शौक़ विद्यार्थी जीवन से ही बहुत था। बहुत-सी किताबें उसी ज़माने में पढ़ डालीं। जब कोई दिलचस्प किताब हाथ लग जाती तो बग़ैर पढ़े न छोड़ते और उसमें इतना खो जाते कि खाने तक की सुध-बुध न रहती। उनकी माँ निवाले बना-बनाकर मुँह में रखती रहतीं और हसरत किताब पढ़ने में मशग़ूल रहते। उनकी लायब्रेरी में पुरानी उर्दू शायरी के तज़किरे इसी अध्ययनप्रियता की देन हैं। लायब्रेरी के लिए बड़ी-बड़ी दुर्लभ किताबें ढूँढ़-ढूँढ़कर लाते, उन्हें पढ़ते और उन पर समालोचनात्मक लेख लिखते। इस तरह उसके अपने संग्रह में बड़ी उम्दा किताबें जमा हो गई थीं। **उर्दू-ए मुअल्ला** के ज़रिए अपने शौक़ को दूसरों तक पहुँचाया और उनमें अध्ययन का शौक़ पैदा किया। वह बहुत प्रबुद्ध और कुशाग्र थे, सैकड़ों शेर पुराने उस्तादों के ज़बानी याद थे जिनको मौक़े-मौक़े से सुनाते और इस्तेमाल करते थे। अध्ययन प्रतिभा की निशानी होता है। अगर कोई अदीब या शायर प्रतिभाशाली है और उसे अध्ययन का भी शौक़ हो तो उसकी कला में कामयाबी यक़ीनी है। हसरत में ये सब ख़ूबियाँ मौजूद थीं।

स्वभाव और आदतें

हसरत बड़े सिद्धांतवादी, सच्चे और निडर इन्सान थे। वह किसी का बुरा नहीं चाहते थे, हरेक के दोस्त और हमदर्द थे। सादा लिबास पहनते, घर का सौदा-सुलफ़ ख़ुद लाते और घर में सबको खिलाकर ख़ुश होते थे। घरवालों पर तो उनका असर था ही, बाहर भी उनका असर ऐसा था कि लोग हैरत करते थे। भाइयों की पढ़ाई-लिखाई में ख़ास दिलचस्पी लेते थे। ख़ानदान के हर उस आदमी की मदद के लिए तैयार रहते जो मदद के क़ाबिल होता। अक्सर ऐसा इत्तिफ़ाक़ हुआ कि जब कोई काम कराने उनके पास आया वह नाकाम वापस नहीं गया। इसकी वजह यह थी कि वह ख़ुद उसके साथ जाते और उसमें अपनी पूरी दिलचस्पी लेते और कामयाब होते। नमाज़ पाबंदी से अदा करते और रात को नमाज़ से फ़ारिग़ होकर अपनी डायरी पाबंदी से लिखते। मुशायरों में बुलाए जाते तो ज़रूर जाते और कभी मुशायरे के आयोजकों से मुआवज़ा न लेते। सादा खाना और सादा पहनना हमेशा उनकी आदत रही और इस आदत में कभी तब्दीली न आने दी। पर्दा-प्रथा के विरोधी थे, मगर सख़्ती से न थे। बीवी से कभी पर्दा करने की माँग नहीं की। सहिष्णु ऐसे कि दूर-दूर तक उनका सानी नज़र न आता था।

एक बार रदौली शरीफ़ के उर्स में गए। ट्रेन में एक भिखारी ने कपड़े का सवाल किया। हसरत ने अपनी अचकन उतारकर दे दी और ख़ुद फटी-पुरानी...

क़मीज़ उर्स में पहने हुए पहुँच गए।

अक्सर पैदल चलते थे। सवारी में बहुत कम सफ़र करते थे। हमेशा थर्ड क्लास में सफ़र किया। मिज़ाज में सादगी बहुत थी। क़व्वाली के भी बहुत शौक़ीन थे और सिनेमा को नापसंद करते थे।

निधन

हसरत मोहानी आज़ादी की लड़ाई में पहली पंक्ति के मुजाहिद थे जिन्होंने अंग्रेज़ों के खिलाफ़ आवाज़ उठाई और उनको हिंदुस्तान से निकलने पर मजबूर किया। इसके लिए वह आख़िरे-दम तक मुक़ाबला करते रहे।

14 अगस्त, 1947 को हिंदुस्तान दो हिस्सों में बँट गया। मौलाना ने पाकिस्तान बनने के बाद हिंदुस्तान में रहना पसंद किया। उनकी वाणी में वह जादू था जिससे लोगों को ताक़त मिलती थी। वह हिंदुस्तान की संसद के सदस्य भी थे। आज़ादी के बाद जब भारत का संविधान 6 जनवरी, 1949 को संविधान सभा में मंजूरी के लिए पेश किया गया तो सबकी सहमति जानने के लिए अध्यक्ष ने पूछा कि क्या भारत का यह नया संविधान यहाँ उपस्थित सज्जनों को स्वीकार्य है तो सबने नए संविधान के समर्थन में हाथ उठा दिया, लेकिन अचानक पूरे सदन में एक आवाज़ गूँजी, "मुझे मंजूर नहीं है।"

यह अकेली आवाज़ उसी योद्धा पुरुष की थी जिसने 1921 में अहमदाबाद के कांग्रेस अधिवेशन में भारत की संपूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव पेश किया था। यह वह ज़माना था जब गाँधी जी कांग्रेस पर छाये हुए थे और असहयोग आंदोलन का बहुत ज़ोर था। गाँधी जी हसरत के इस क़दम से घबरा गए, मगर हसरत अपनी बात पर जमे रहे। उन्होंने जब इसको खुले सत्र में पेश किया तो किसी ने उसके पक्ष में हाथ नहीं उठाया, लेकिन वक़्त का खेल देखिए कि इसी बात को 1929 में जब पं. जवाहरलाल नेहरू ने पेश किया तो सबने उनके समर्थन में हाथ उठा दिए। इसी तरह नए संविधान की मंजूरी के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाई, किसी ने नहीं सुना।

उनकी आवाज़ अब भी सदन के स्तंभों में गूँजती सुनाई देती है और अन्याय की भर्त्सना करती है। ज़ौक़ का यह शे'र किस क़दर रंगो-बू की तमन्ना लिये हुए हसरत से अपने कारनामों का जाइज़ा लेता है :

अगर ये जानते कि चुन-चुन के हम को तोड़ेंगे
तो गुल कभी न तमन्ना-ए-रंगो-बू करते

हसरत की सेहत 1949 से आहिस्ता-आहिस्ता गिरने लगी थी। कभी बीमार पड़ जाते, कभी ठीक हो जाते। बहुत दिनों तक यही सिलसिला चलता रहा।

1950 में आख़िरी बार हज किया। इससे पहले दस बार हज कर चुके थे।

उन्होंने कुल ग्यारह बार हज किए और मदीना तैयबा की ज़ियारत (दर्शन) की।

डॉक्टर के इलाज से बहुत घबराते थे। इंजेक्शन लेने और दवा पीने पर मुश्किल से तैयार होते थे।

निधन से कुछ अरसे पहले लखनऊ आ गए थे और फ़िरंगी महल में अस्थायी तौर पर रहने लगे थे। आख़िरी दिनों में मिलने-जुलने से एहतियात बरतने लगे थे। दस्त की बीमारी ने उनको बहुत कमज़ोर कर दिया था, लेकिन बेचैनी के आसार उनके चेहरे पर जरा भी नहीं दिखते थे। वही धैर्य और साहस जिसका ज़िदंगी भर साथ रहा उनके चेहरे से ज़ाहिर होता था। आख़िरी वक़्त तक अज़ीजों को दिलासा देते रहे और उनकी हिम्मत बढ़ाते रहे। अलबत्ता जिस दिन उनका निधन हुआ उस दिन यह हालत हो गई थी कि ख़ामोश चारपाई पर लेटे, आँखें बंद किए उंगलियों पर कुछ पढ़ते दिखाई देते थे। स्मरणशक्ति आख़िरी वक़्त तक ठीक थी, सबको पहचानते थे। आख़िरकार 13 मई, 1951 को हसरत का निधन हो गया और अनवार बाग़ के फ़िरंगी महल क़ब्रिस्तान में अपने पीर मुर्शिद के बराबर दफ़नाए गए।

हसरत ने काफ़ी उम्र पाई। उनकी पूरी ज़िंदगी पर नज़र डालने के बाद अन्दाज़ा होता है कि वह सच्चाई के पुजारी और आज़ादी के दीवाने थे। उन्होंने अपनी-आज़ादी की धुन में कभी किसी की मुख़ालफ़त की परवाह नहीं की बल्कि सच्चाई और ख़ुलूस के साथ अपने कामों में लगे रहे, जिसका नतीजा यह हुआ कि बड़े से बड़े प्रतिद्वन्द्वी को भी अपना अनुयायी बना लिया। वह अपने माहौल और अपने दौर की निहायत सच्ची और खरी पैदावार थे। ऐसा सच्चा और खरा इन्सान सदियों में पैदा होता है।

कुछ महत्त्वपूर्ण प्रसंग

प्रोफ़ेसर रशीद अहमद सिद्दीक़ी उर्दू के प्रमुख व्यंग्यकार थे। उनकी सारी ज़िंदगी अलीगढ़ में गुज़री। रशीद साहब के हसरत मोहानी से बड़े गहरे ताल्लुक़ात थे। अलीगढ़ के रिश्ते से भी दोनों एक दूसरे को ख़ूब पहचानते थे और सम्मान करते थे। एक मर्तबा उन्होंने हसरत को पी.-एच.डी. के एक ज़बानी इम्तिहान के लिए परीक्षक के रूप में अलीगढ़ बुलवाया। वह अपने सादा लिबास में, जो उनका यूनीफ़ार्म था, तशरीफ़ लाए। इम्तिहान लिया और जब चलने का वक़्त आया रशीद अहमद ने यात्रा-व्यय के बिल का फ़ार्म पेश किया। इसके बारे में हसरत के सीधेपन को रशीद साहब ने इस तरह बयान किया है :

> "उर्दू पी-एच.डी. का ज़बानी इम्तिहान लेने हसरत अलीगढ़ तशरीफ़ लाए थे ····सफ़र ख़र्च का बिल फ़ार्म दस्तख़त के लिए पेश किया गया तो बोले, ये फ़र्स्ट क्लास का किराया कैसा, मैं तो थर्ड क्लास में सफ़र

किया करता हूँ और दरअसल मैं देहली जा रहा हूँ। प्रोग्राम ऐसा रखा था कि यहाँ उतर पड़ूँ और इम्तिहान लेकर आगे बढ़ जाऊँ। फिर यह किराया कैसा और ठहरने का अलाउंस क्यों? (खाना-पीना और ठहरना) तो आपके यहाँ रहा। बड़ी देर तक बड़े मज़े की रद्दो-क़दह (विवाद) होती रही और अलीगढ़ से अपनी उल्फ़त (मुहब्बत) का इज़हार करते रहे। हसरत बड़े ज़िंदादिल और ख़ुशगुफ़्तार (मधुरभाषी) थे। मैंने कहा, 'मौलाना, यह रुपया तो आप मेरी ख़ातिर ले ही लें और मेरे ही ऊपर अपने हाथ से सर्फ़ (ख़र्च) कर दें।' बोले, 'हाँ, यह हो सकता है। बताइए, वो कैसे?' मैंने कहा, 'मेरे लिए एक वैसा ही यूनीफ़ार्म बनवा दीजिए जैसाकि आप पहने रहते हैं।' बेइख़्तियार (अनायास) हँस पड़े। फिर बोले, 'यह यूनीफ़ार्म क्या कीजिएगा ?' मैंने कहा, 'दुश्मनों का ख़याल है कि आप अपने बाद अपना खलीफ़ा मुझ ही को नामज़द करेंगे। उस वक़्त यह सज्जादा मेरे काम आएगा।' बोले, 'ख़िरक़ा या सज्जादा?' (दरवेशों का चोला या जिस पर नमाज़ पढ़ी जाती है वह दरी) मैंने कहा, 'न यह ख़िरक़ा न सज्जादा। इनका कारोबार तो सभी करते हैं। आपके यूनीफ़ार्म में तो आपका ख़लीफ़ा खानक़ाह बरदोश नज़र आएगा।' बहुत महज़ूज़ (प्रसन्न) हुए, रह-रह के हँसते और दाद देते रहे।"[11]

"एक मर्तबा कानपुर के एक सौदागर चोब जो हसरत के नियाज़मंद (प्रशंसक) थे उनसे मिलने गए तो देखा मौलाना कुछ तहरीर फ़रमा (लिख) रहे थे। यह सलाम करने के बाद शिकस्ता (फटे पुराने) बोरिये पर, जो मौलाना के डेस्क के सामने बिछा था, ब-सद अदब (सादर) बैठ गए। मौलाना लिखते भी जाते थे और गुफ़्तगू भी फ़रमाते जाते थे। पुश्त पर (पीछे) एक फटा-पुराना पर्दा लटक रहा था। मौलाना पर्दे के पीछे से कुछ निकालते और मुँह में रख लेते और गुड़ की डली से थोड़ा गुड़ खा लेते। सौदागर चोब ख़ामोशी से यह मंज़र देखते रहे। जब ज़ब्त न हुआ तो अर्ज़ की, 'आप क्या खा लेते हैं, कुछ ख़ादिम को भी अता हो।' (सेवक को भी प्रदान करें) मौलाना ने पर्दे के पीछे से मिट्टी का हंडा निकाल लिया जिसमें सूखी रोटियाँ पानी में भीगी हुई थीं। गुड़ की डली भी डेस्क पर रख दी और फ़रमाया, 'लो, खा लो फ़कीरों का खाना, तुम रईस न खा सकोगे।' सौदागर आबदीदा (आँखों में आँसू) हो गए। मौलाना ने फ़रमाया, 'आज तीसरा फ़ाक़ा है (अर्थात् तीन दिन से भूखा था), शुक्र है सूखी रोटी मयस्सर आ गई। बड़ी तस्कीन हो गई।"[12]

अंग्रेज़ों के ज़माने में हसरत पर कड़ी नज़र रहती थी। खुफ़िया पुलिस का एक आदमी हमेशा दायें-बायें उनके साथ रहता था जो अपने महकमे को उनके बारे में रिपोर्ट करता रहता। इस सिलसिले का एक प्रसंग यहाँ दिया जा रहा है

> "हसरत ख़्वाह किसी क़दर बे-ज़रर (नुक़सान न पहुँचाने वाले) रहे हों, मगर अंग्रेज़ी अहद में वह बड़े ख़तरनाक समझे जाते थे। वह कहीं जाएँ, एक ख़ुफ़िया पुलिस का आदमी उनके साथ रहता था। स्टेशनों पर उनकी आमद की इत्तिला कर दी जाती थी मगर वह भी अजीब दिलचस्प आदमी थे। हमेशा पुलिस और रेलवे के आदमियों को उन्होंने धोका दिया। वह कहते थे कि मैं टिकट मंज़िले-मक़सूद (गंतव्य स्थान) से आगे-पीछे का लेता हूँ और बीच में उतर जाता हूँ। पुलिस हैरान होती है। कभी यह करते कि अपने बजाय दूसरे का भेजकर टिकट मँगवा लेते और पता भी न चलता। फिर यह होने लगा कि दरम्यान राह में उनके टिकट का नम्बर चेक होता।
>
> "एक दफ़ा यह हुआ कि टिकट चेकर मुसाफ़िरों के टिकट देखने लगा। हसरत ताड़ गए कि वह चक्कर काटकर दूसरी तरफ़ चले गए। टिकट चेकर को जब ख़ूब हैरान कर चुके तो सामने आकर फ़रमाया कि यह नंबर ढूँढ़ रहे हो। इससे ज़्यादा यह लतीफ़ा होता कि वह राह में किसी से अपना टिकट बदल लेते थे। हसरत तो स्टेशन से उतरकर चलते होते और दूसरा नाकर्दा गुनाह (निरपराध) हसरत बना पुलिस को अहमक़ बना रहा है।"[13]

मुशायरे में जो शायर भाग लेते हैं, वे महफ़िले-मुशायरा की तरफ़ अपनी नज़रें जमाए रहते हैं ताकि अपना कलाम सुनाकर, पारिश्रमिक वसूल करके वहाँ से रवाना हों। इस वक़्त शायरों की हालत बड़ी क़ाबिले-रहम होती है। एक मर्तबा किसी मुशायरे में जगन्नाथ आज़ाद और हसरत मोहानी शरीक थे। सब शायरों ने अपना कलाम सुनाने के बाद मुआवज़ा वसूल कर लिया, मगर हसरत मोहानी अकेले शायर थे जिन्होंने मुआवज़ा लेने से साफ इन्कार कर दिया। आज़ाद लिखते हैं :

> "जिन शुअरा (शायरों) ने मुआवज़े की रक़म का ज़िक्र किया था उनसे मुन्तज़िमीन (आयोजकों) इख़राजाते-सफ़र (यात्रा-व्यय) के मुताल्लिक़ पूछ-पूछ कर रुपया अदा कर रहे थे। हसरत मोहानी उन ही शुअरा में से थे जिन्होंने शिरकते-मुशायरा के लिए कोई मुआवज़ा तलब नहीं किया था। मुन्तज़िमीन उनकी ख़िदमत में हाज़िर हुए और एक लिफ़ाफ़ा उनकी ख़िदमत में पेश किया। आपने फ़ौरन कहा कि 'मुझे

इसकी ज़रूरत नहीं है। मैंने सफ़र ख़र्च में कुछ ख़र्च नहीं किया। एक गार्ड मुझे अपने साथ अपने डिब्बे में बिठाके ले आया है। टिकट मैंने ख़रीदा ही नहीं। वह गार्ड आज शाम को वापिस जा रहा है और वह मुझे अपने साथ वापिस ले जाएगा।' मुन्तज़िमीन ने बहुत कहा, वह इन्कार पर अड़े रहे 'जब मैंने टिकट वग़ैरा पर कुछ खर्च नहीं किया तो आपसे इख़राजात लेने का क्या सवाल !"[14]

"मुंशी प्रेमचंद ने अपने एक अफ़साने में किसी सियासी बहरूपिये के अहतजाजन फ़ाक़ा (अनशन) करने का बहुत मज़ेदार ज़िक्र किया है जिसने अहदे-बर्तानिया में फ़ाक़े पर फ़ाक़े किसी बात के मनवाने के लिए किए। मगर अमल में ख़ुलूस न था (अर्थात् कथनी और करनी में अंतर था) सी.आई.डी. वालों ने उसके एक बेतकल्लुफ़ दोस्त को उस पर मुसल्लत किया। वह ठंडे पानी की सुराही और क़लाक़ंद जो उसे बहुत मरग़ूब (पसंद) था लेकर उसके पास तनहाई में गया और ये तोहफ़े पेश किए और कहा, यहाँ कोई नहीं, है, चुपके से खा लो। सियासी बेवफ़ा ने ललचाई नज़र से पहले तो देखकर इतना कहा कि भोला की दुकान का मालूम होता है। गर्दन तस्दीक़ (सहमति) के लिए पूरी अभी हिलने भी न पाई थी कि क़लाक़ंद और ठंडा पानी सब हलक़ के नीचे। सियासी और मज़हबी ज़िंदगी ही में न सिर्फ़, बल्कि मुख़्तलिफ़ दाइरा-ए-हयात (जीवन के विभिन्न क्षेत्रों) में कितनी सूरतें मिलेंगी जहाँ सिद्क़े-अमल और सिद्क़े-नियात का फ़ुक़दान है (अर्थात् जहाँ कथनी और करनी है)। इसके मुक़ाबले में हसरत मरहूम की ज़िंदगी के हज़ारों ऐमाल (कर्मों) से अगर सब न सही, एक नमूना ख़ुलूसे-अमल (कर्म की सच्चाई) को पेश कर दिया जाए तो वह हसरत की सीरत (चरित्र) को पहाड़ी की सबसे ऊँची चोटी पर देखने के लिए काफ़ी है। रात का सन्नाटा है और वह ज़माना जब जंगे-आज़ादी जीतने के लिए विदेशी माल और कपड़े हर तरफ़ जलाए जा रहे हैं। माघ-पूस की कड़ाके की सर्दी पड़ रही है। रात के पिछले पहर का वक़्त है। हसरत मोहानी एक घर में मेहमान हैं। उनको ओढ़ने के लिए एक कम्बल मिला है। दफ़अतन (अनायास) आँख खुलने पर उनको गुमान हुआ कि यह बिदेसी माल है। मौलाना अबुल काफ़ी साहब और शायद नज़ीर अहमद साहब मरहूम मुझसे ख़ुद नाक़िल थे (अर्थात् उन्होंने खुद बताया) कि उस वक़्त देखा गया तो कम्बल अलग पड़ा है और ख़ुदा जाने कब से हसरत काँपते और सामने अपने ख़ुलूस और सिद्क़े-अमल का इम्तिहान दे रहे थे।"

हसरत का आल इंडिया रेडियो स्टेशन से जब कोई भाषण या लेख प्रसारित होता तो उसका मुआवज़ा कभी न लेते। अलबत्ता कभी-कभार काफ़ी आग्रह पर वाजिबी ख़र्च ले लेते जो चंद आनों या चंद रुपयों से ज़्यादा का न होता था। डॉ. अहमद लारी ने लखनऊ रेडियो स्टेशन की एक घटना के बारे में लिखा है :

> "एक प्रोग्राम के ख़ात्मे पर हसरत ने रेडियो वालों के शदीद इसरार (बहुत आग्रह) पर सिर्फ़ तीन आने पैसे लेने मंजूर किये, और बाक़ी रक़म यह कहकर वापस कर दी कि इतनी बड़ी रक़म लेकर हम क्या करेंगे। हालाँकि इस प्रोग्राम के लिए वह कानपुर से आए थे, लेकिन उन्होंने कहा कि घर से कानपुर स्टेशन तक पैदल आया हूँ। रेल में खुफ़िया पुलिस वालों की बदौलत बर्फ़ के डिब्बे में मुफ़्त सफ़र किया है। लखनऊ स्टेशन से रेडियो स्टेशन तक सरकारी मोटर में आया हूँ। यही मोटर स्टेशन तक ले जाएगी। फिर रुपये किसके लिए लूँ? ऐसा ही इसरार है तो एहतियातन वापसी सफ़र के लिए लखनऊ से कानपुर तक का तीसरे दर्जे का किराया तीन आने दे दो।"

ऊपर उनके जीवन के जो चंद अहम प्रसंग बयान किए गए हैं उनके पढ़ने से अंदाज़ा होता है कि हसरत इतनी तंगदस्ती और मुफ़लिसी में रुपयों की तरफ़ से हमेशा उदासीन रहे और अपनी दयानतदारी और ख़ुद्दारी को क़ायम रखा। यहाँ तक कि अपनी मेहनत का मुआवज़ा लोगों के बेहद आग्रह पर जो वाजिबी होता था उसको लेने के लिए मुश्किल से तैयार होते लेकिन वह भी कभी-कभार। संविधान सभा और संसद के मरते दम तक सदस्य रहे लेकिन उन्होंने अधिवेशनों में शिरकत और ठहरने का कभी (अलाउंस) भत्ता नहीं लिया। नई दिल्ली में संसद के क़रीब एक मस्जिद में क़याम करते और किसी क़रीब के होटल में खाना खा लेते। उस ज़माने में दैनिक भत्ता और मासिक वेतन हर संसद सदस्य को मिलता था, अब तो वह और भी ज़्यादा मात्रा में मिलता है, मगर हसरत जब तक ज़िंदा रहे एक पैसा नहीं लिया। विभाजन के बाद स्व. पं. जवाहरलाल नेहरू ने मौलाना को कई बार लिखा और उनके दोस्तों-प्रियजनों के माध्यम से रुपया वसूल करने की सूचनाएँ भिजवाईं मगर हसरत हमेशा इन्कार करते रहे और सबसे यही कहते रहे कि इस रुपये पर, जो कई हज़ार की तादाद में था, मेरा कोई हक़ नहीं है। उनके ख़याल में इतनी बड़ी रक़म वसूल करना हिंदुस्तानी अवाम के साथ ज़ुल्म है, जबकि दूसरे मेम्बरान अच्छे से अच्छे होटलों में ठहरते और ज़्यादा से ज़्यादा ख़र्च का बिल पेश करके वसूल करते।

हसरत के दोस्तों का हलक़ा भी बहुत व्यापक था। उसमें दौलतमंद और औसत दर्जे दोनों तरह के लोग शामिल थे लेकिन हसरत हमेशा अमीरों के

चोंचलों से दूर भागते थे, इसलिए कि अमीरों के यहाँ वह सादगी, बेतकल्लुफ़ी और हक़ीक़तपसंदी उन्हें नहीं मिलती थी जिसके वह आदी थे। लाहौर जब भी वह जाते उनका क़याम मशहूर पुस्तक-विक्रेता शेख़ मुबारक अली के यहाँ होता। कई बार ऐसा संयोग हुआ कि शेख़ साहब की दुकान बंद मिलती और वह उनका दुकान खुलने तक उसी सादी यूनीफ़ार्म में इन्तज़ार करते रहते। जब शेख़ साहब दुकान खोलते तो वह मौलाना को खड़ा देखकर बड़ी हैरत करते। वह कहते कि घर क़रीब होते हुए भी यहाँ परेशानी क्यूँ उठाई? हसरत आज़ादी की लड़ाई के वह मुजाहिद थे जिनके पास न दौलत थी न जायदाद, और न रुपया जो अपनी ज़रूरियाते-ज़िंदगी से फ़ाज़िल बचता जिसके आने वाले दिनों के लिए बचाकर बैंक में जमा करते, बल्कि ग़रीबी, मुफ़लिसी और ख़ुद्दारी में अपनी तमाम ज़िंदगी गुज़ार दी। यह थी शालीन सांस्कृतिक विरासत जिसके वह अकेले वारिस थे।

स्वदेशी आंदोलन

हिंदुस्तान में अंग्रेज़ों के अत्याचार ने यहाँ की आर्थिक दशा को बहुत ख़राब कर दिया था। आज़ादी की लड़ाई के दौरान मुल्क की हालत को बेहतर बनाने के लिए एक मसला यह भी था कि स्वदेशी आंदोलन चलाया जाए और उसको जनांदोलन का रूप दिया जाए। हसरत मोहानी पहले हिंदुस्तानी मुसलमान थे जिन्होंने इस आंदोलन को आम करने के लिए स्वदेशी स्टोर क़ायम किया, मगर उसकी ख़रीदो-फ़रोख़्त के लिए उनके पास ख़ुलूस था, दौलत न थी, हिम्मत थी, सरमाया न था। रुपये-पैसे से हमेशा अलग-थलग रहे। मौलाना शिबली हसरत के बड़े गहरे दोस्त थे। शिबली ने हसरत को सर फ़ाज़िल भाई करीम भाई से मिला दिया। हसरत ने मिस्टन रोड पर अलीगढ़ ख़िलाफ़त स्टोर लिमिटेड क़ायम किया जिसमें अरसे तक स्वदेशी कपड़े ख़रीदो-फ़रोख़्त करते रहे। इस तरह हसरत पहले हिंदुस्तानी थे जिन्होंने स्वदेशी कपड़ों का व्यापार किया और जनता को उसके इस्तेमाल का फ़ायदा समझाया। मौलाना की यह दुकान खूब चल निकली। उसी को देखकर शिलबी ने कहा था कि "तुम आदमी हो या जिन्न ! पहले शायर थे, फिर पालीटीशियन बने और अब बनिये हो गए।" हसरत की ज़िंदगी भर ख़्वाहिश रही कि स्वदेशी आंदोलन पूरे हिंदुस्तान में लोकप्रिय हो। जिस काम में हाथ डाला, उसमें कामयाबी हासिल की और कभी किसी काम को अधूरा न छोड़ा। हसरत के लिबास में जो सादगी थी वह दूसरे स्वदेशी आंदोलन के समर्थकों में मुश्किल से नज़र आएगी। उन्होंने दर्ज़ी का सिला हुआ कपड़ा कभी नहीं पहना, हमेशा बीवी के हाथ का सिला हुआ कपड़ा पहनते थे।

2
राजनीतिक जीवन

राजनीति

पाँच साल तक उर्दू-ए-मुअल्ला नियमित रूप से निकलता रहा। उन्होंने 1908 में मिस्र के मशहूर लीडर मुस्तफ़ा कामिल की मौत पर एक विशेषांक प्रकाशित किया जिसमें एक लेख 'मिस्र में बर्तानिया की पालिसी' पर भी था। इसमें लेखक का नाम नहीं दिया गया था। लेख में अंग्रेज़ों की नीति की निंदा की गई थी। अंग्रेज़ी हुकूमत ने उर्दू-ए मुअल्ला के संपादक को बाग़ी क़रार दे दिया। अलीगढ़ में यह पहला जुर्म था। कॉलिज की इज़्ज़त को ख़तरे में पड़ता देखकर अच्छे-अच्छों के छक्के छूट गए, यहाँ तक कि नवाब वक़ारुल मुल्क भी, जो कि हसरत के प्रशंसक थे, इस लेख के प्रकाशन से उनके ख़िलाफ़ हो गए। हसरत के ख़िलाफ़ बहुत-से लोगों ने गवाहियाँ दीं। इस जुर्म के लिए हसरत को अदालत ने दो वर्ष की सज़ा और पाँच सौ रुपये जुर्माना किया। उनके लिए यह जेल जाने का पहला अवसर था। उनका पुस्तकालय, प्रेस सब कुछ पुलिस ने अपने क़ब्ज़े में कर लिया। यह लेख हसरत का लिखा हुआ न था बल्कि शायद इक़बाल सुहैल का लिखा हुआ था। इक़बाल सुहैल बाद में आज़मगढ़ के मशहूर वकील हुए। वह शेरो-सुख़न के मामले में अच्छी अभिरुचि रखते थे। मौलाना सैयद सुलेमान नदवी इस मज़मून के सिलसिले में लिखते हैं :

> "मज़मून (लेख) हसरत का न था मगर मुक़दमा क़ायम होने पर हसरत ने उसको ख़ुद ओढ़ लिया और बावजूद इसरार (आग्रह) के लिखने वाले का नाम नहीं बताया। ख़याल आता है कि यह मज़मून आज़मगढ़ के मशहूर शायर वकील इक़बाल सुहैल का था जो उन्हीं की तरह शेरो.सुख़न और सियासी मज़ाक़ (राजनीतिक अभिरुचि) का इत्तिहाद (एका) रखते थे।"

मुसलमानों में राजनीतिक चेतना दूर.दूर तक नज़र न आती थी। हसरत की यह एकमात्र पत्रिका थी जिसने हिंदू-मुस्लिम एकता का सबक सिखाया और मुसलमानों को राजनीति में भाग लेने की प्रेरणा दी और अंग्रेज़ों को हिंदुस्तान से निकलने पर मजबूर किया। भारतीय राष्ट्रीयता की कल्पना हिंदू-मुस्लिम एकता के बग़ैर संभव न थी। कांग्रेस के समर्थकों में वह पहले मुसलमान थे जिन्होंने अंग्रेज़ों के दाँत खट्टे कर दिए और कभी समझौते के लिए तैयार न हुए। हसरत बड़े सादा स्वभाव के आदमी थे और उन्होंने सख़्त से सख़्त मुसीबतों का डटकर मुक़ाबला किया और कभी

पराजय स्वीकार न की। बाद में कांग्रेस के समर्थकों में **अल हिलाल** भी एक निर्भीक मंच बन गया।

इस अख़बार के संपादक मौलाना अबुल कलाम आज़ाद थे।

हसरत 1909 में रिहा होकर जब जेल से बाहर आए तो **उर्दू-ए-मुअल्ला** दुबारा जारी करने का इरादा किया। कोई प्रेस इस पत्रिका को छापने के लिए तैयार न थी, इसलिए मजबूरन ख़ुद ही हाथ का प्रेस लगाया और उसका नाम **उर्दू प्रेस** रखा। रिसाले की किताबत और संगसाज़ी शायद ख़ुद ही करते थे और बीवी सम्पादकीय सहकर्मी के रूप में उन्हें सहयोग देतीं और शायद पेपरमैन का काम भी करतीं। इस तरह यह पत्र अलीगढ़ से अप्रैल, 1913 तक निकलता रहा। एक दिन, 12 मई, 1913 को, रात के 9 बजे ख़ुद सुपरिंटेंडेंट पुलिस ने हसरत के मकान पर एक नोटिस दिया जिसमें लिखा था कि **उर्दू-ए-मुअल्ला** में पुलिस ऐक्ट 1910 के अनुसार कुछ शब्द कानून-विरोधी छपे हैं। इसके बदले में एक सप्ताह के अंदर तीन हज़ार रुपये ज़िला मजिस्ट्रेट के पास जमा करा जाएँ। हालाँकि **उर्दू प्रेस** की सम्पत्ति दो अदद पत्थर और एक लकड़ी का दस्ती प्रेस से ज़्यादा कुछ न थी। हसरत को इसका बहुत दुख हुआ। हुकूमत ने उनके प्रेस से तीन हजार रुपये की ज़मानत तलब की तब हसरत ने **उर्दू-ए मुअल्ला** बंद करते हुए इस घटना पर लिखा :

> "उर्दू प्रेस का ख़ात्मा
>
> ज़मानत के लिए नोटिस
>
> 12 मई, 1913 को 9 बजे शब के क़रीब अलीगढ़ सुपरिंटेंडेंट पुलिस ने बज़ाते-ख़ुद वारिद (स्वयं प्रकट) होकर राक़िमुल हुरूफ़ (इन पंक्तियों के लेखक) के सामने हुकूमत की जानिब से एक नोटिस पेश किया जिसका मफ़हूम (आशय) यह था कि उर्दू प्रेस चूँकि अज़ रूए ऐक्ट 1910 चंद अल्फ़ाज़ ख़िलाफ़ छापे हैं इसलिए एक हफ़्ते के अंदर तीन हज़ार रुपये की ज़मानत मजिस्ट्रेट ज़िला के पास जमा करनी चाहिए·· वाज़ेह हो (पाठक यह ध्यान रखें) कि उर्दू प्रेस की कुल कायनात एक लकड़ी के प्रेस और दो पत्थरों पर मुश्तमिल है जिसकी मजमूई (कुल मिलाकर) क़ीमत पचास रुपये से ज़ायद नहीं। ऐसे बे-बिज़ाअत (निर्धन) प्रेस से तीन हज़ार रुपये तलब करना मज़हका ख़ेज़ (हास्यास्पद) होने के अलावा हैरत से गुज़रकर कीना-परवरी (द्वेषपूर्ण कार्य) की हद तक पहुँच गया है, जिसका मतलब इसके सिवा कुछ नहीं हो सकता कि उर्दू प्रेस के जारी रहने का कोई इमकान बाक़ी न रहे। ख़ैर 19 मई को प्रेस बंद हो जाएगा मगर बंद होकर अपने बाद मिसेज़ जेम्स मेस्टन ·· की शिआरी (निशानी) यह अफ़साना यादगार छोड़ जाएगा कि आपने एक बीमार दस्ती प्रेस से इतनी

> कसीर (ज़्यादा) रक़म तलब की जिससे ज़्यादा इस वक़्त तक शायद हिंदुस्तान में किसी बड़े स्टीम प्रेस से भी न ली गई। हम जनाब मौसूफ़ की इस ख़ास नवाज़िश (श्रीमान् की इस विशेष कृपा) को ·· बख़ुशी बर्दाश्त करते हैं। एक बात अलबत्ता क़ाबिले-इत्मिनान और लायके-शुक्र है, वो यह कि इस क़िस्म के नोटिस से राक़िम (इन पंक्तियों के लेखक) को किसी क़िस्म का माली, जिस्मानी या रूहानी सदमा न इस वक़्त तक पहुँचा, न आइन्दा पहुँचेगा, इन्शा अल्लाह तआला !"

हसरत की यह बेलाग टिप्पणी उनकी हिम्मत और दिलेरी का बेहतरीन सबूत है। उनके साथ बर्तानवी हुकूमत की ज़्यादती से मौलाना अबुल कलाम आज़ाद के दिल पर आघात हुआ। आज़ाद ने इसके ख़िलाफ़ आवाज़ उठाई और अपने साप्ताहिक पत्र **अल हिलाल** में अंग्रेज़ी सरकार के अत्याचारों के ख़िलाफ़ विस्तार से लिखा।

क़ैद से रिहा होने के बाद हसरत मोहानी के दोस्तों ने उनको राजनीति से दूर रहने का मशविरा दिया मगर उन्होंने अपने क़रीबी और गहरे दोस्तों की इस सदाशयतापूर्ण सलाह को कुबूल नहीं किया बल्कि उनके इरादे में और पुख़्तगी पैदा हो गई। बहुत-से ख़रीदारों ने इसी बिना पर **उर्दू-ए मुअल्ला** का चंदा देना बंद कर दिया और लोग भी मिलने-जुलने से कतराने लगे, मगर उन्होंने किसी की परवाह न की और अपने शग़ल को जारी रखा।

हसरत ने **उर्दू-ए मुअल्ला** के जरिए हिन्दुस्तान में राजनीतिक चेतना को जाग्रत किया और यह पत्र ऐसा चिराग़ था जिसको वह दुनिया के आँधी-तूफ़ान से बचाते रहे। और मुसलमानों के अंधेरे ज़हनों को दीप्ति से भरते रहे। 1916-17 में हसरत जेल में थे, बेगम हसरत अलीगढ़ में अपनी बूढ़ी माँ के साथ रहती थीं। कठिनाई और अभाव में गुज़र तो हसरत की मौजूदगी में भी होती थी, मगर जब हसरत मौजूद न होते तो इस शिद्दत में और इजाफ़ा हो जाता। पं० किशन प्रसाद कौल उर्दू के मशहूर लेखक और आलोचक थे। हसरत के उनसे गहरे संबंध थे। बेगम हसरत को भी उनके दोस्ताना संबंध की जानकारी थी। जब कौल साहब को इसका पता चला तो वह अलीगढ़ बेगम हसरत की ख़ैरियत मालूम करने पहुँचे और उन्होंने बेगम हसरत के दरवाज़े पर दस्तक दी। कौल साहब ने बेगम हसरत के स्वाभिमान, साहस और आत्मविश्वास का ज़िक्र अपने एक लेख में किया है जो उनके निधन के बाद लखनऊ के 'निगार' के हसरत अंक में छपा था। इस लेख से बेगम हसरत के चरित्र और खुद्दारी का पता चलता है। कौल अपने लेख में लिख़ते हैं :

> "मैंने दरवाज़ा खटखटाया और अपना नाम बताया। बेगम हसरत ने दरवाज़ा खोला और मुझे एक कमरे में ले जाकर बिठाया। उस ज़माने में बेगम हसरत अपनी बूढ़ी और बीमार माँ और अपनी बच्ची (नईमा) को साथ

> लेकर इस मकान में रहती थीं। हसरत के मुताल्लिक़ बातचीत हुई। वह जेल में हसरत का हाल और कैफ़ियत मुझे बता रही थीं। हसरत तो जेल में थे लेकिन उनके घर के दरो-दीवार से हसरत टपक रही थी। आख़िर मैंने झिझकते हुए कहा कि अगर आप मंज़ूर करें तो कुछ माली इमदाद (आर्थिक सहायता) का ज़िक्र किया जाए। उन्होंने जवाब में कहा कि मुझे यह गवारा नहीं कि मेरे लिए पब्लिक से चंदा किया जाए। मैं जिस हालत में हूँ, खुश हूँ। आप इसकी ज़हमत गवारा न करें। लम्हे भर के सुकूत (ख़ामोशी) के बाद फिर बोलीं कि हसरत ने शोरा (शायरों) के कई दीवान छपवाए थे, उनका यह ढेर लगा हुआ है। उर्दू-ए मुअल्ला बंद हो चुका, यह कारोबार ही अब तर हो गया। अब यह ढेर बेकार पड़ा जगह घेर रहा है। अगर इन दवावैन (काव्य-संकलनों) की फ़रोख़्त कराने (बेचने) का कोई इन्तज़ाम कर सकें तो अलबत्ता कुछ सहूलियत (सुविधा) हो जाएगी। मैं यह कहकर कि कोशिश करूँगा, उनसे रुख़सत हुआ।'लखनऊ वापस आकर मैंने अपने दोस्त बाबू शिवप्रसाद गुप्ता को, जो कि राजा मोती चंद मरहूम के भतीजे और बनारस के नामी रईस थे, इस सब हाल की इत्तिला दी। बाबू शिवप्रसाद गुप्ता अलावा रईस होने के बड़े मुख़ैयर (दाता) थे। कई लाख रुपया उन्होंने काशी विद्यापीठ के क़ायम होने में सर्फ़ किया। कांग्रेस के बड़े हामी थे। इसके लिए सऊबतें (कठिनाइयाँ) भी बर्दाश्त कीं। हसरत के मिज़ाज और तबीअत से उनको बड़ा लगाव था। उन्होंने मुझे पाँच सौ रुपये का चेक फ़ौरन भेज दिया जो मैंने बेगम हसरत को रवाना कर दिया। उन्होंने किताबों का पार्सल मुझे भेज दिया। यह दवावैन और किताबें अरसे तक 'हिन्दुस्तानी' अख़बार के दफ़्तर में पड़ी रहीं, याद नहीं कि फिर क्या हुआ।"[17]

इस उद्धरण से बेगम हसरत के चरित्र का पता चलता है कि वह कितनी महान, साहसी और धैर्यशील महिला थीं। ग़रीबी और अभाव की हालत में भी उन्होंने अपने स्वाभिमान को ठेस नहीं पहुँचने दी। हसरत के जीवन का वृत्तांत बेगम हसरत के बग़ैर पूरा नहीं हो सकता। उनके पत्र जो हसरत के नाम हैं, उन्हें पढ़ने से अंदाज़ा होता है कि निशातुन्निसा बेगम ने हमेशा हसरत की नज़रबंदी से बेहतर क़ैद को तरजीह (प्राथमिकता) दी। यह उस पूरब की औरत की आवाज़ है जो बावजूद एक दौलतमंद बाप की बेटी होते हुए हसरत के साथ रूखी-फीकी खाकर, उजरत पर सिलाई करके और चक्की पीसकर ज़िंदगी बसर की, मगर क्या मजाल जो एक हर्फ़ भी शिकायत का ज़बान पर आया हो। उनके धैर्य, पक्केपन और बेबाकी की मिसाल इससे बेहतर कहीं नहीं मिल सकती।

हसरत ने अपने बंदी जीवन की दास्तान **मशाहिदाते-ज़िन्दाँ** शीर्षक से लिखी थी जो **उर्दू-ए मुअल्ला** में क़िस्तवार प्रकाशित हुई थी। उसको किताब के रूप में अगस्त, 1958 में नए क्रम और इज़ाफ़े के साथ मक्तबा नया राही, कराची ने **क़ैदे-फ़िरंग** के नाम से प्रकाशित किया था। उसके शुरू में मौलाना सैयद सुलेमान नदवी का लेख 'हसरत की सियासी ज़िंदगी' दिया गया है। यह लेख सबसे पहले 'निगार' के हसरत अंक में प्रकाशित हुआ था। इसी तरह बेगम हसरत के जो पत्र हसरत और दूसरे लोगों के नाम उनकी क़ैद के दिनों के बारे में लिखे थे उनको पहली बार स्व० मुहम्मद अतीक़ सिद्दीकी ने **'गम हसरत मोहानी और उनके खुतून** शीर्षक से 1981 में प्रकाशित किए। इन पत्रों के प्रकाशन से बहुत-से छिपे पक्ष हमारे सामने आए हैं। चूँकि हसरत की ज़िंदगी में निशातुन्निसा बेगम का विशेष महत्त्व था और उनके राजनीतिक जीवन के निर्माण में उन्होंने जो भूमिका अदा की उसकी कहानी हमें **बेगम हसरत के खुतूत** और **मुशाहिदाते-जिन्दाँ** में मिलती है। निशातुन्निसा बेगम का घराना पढ़ा-लिखा था और यह उस वक़्त की बात है जब नारी-शिक्षा हमारी तहज़ीब में शामिल न थी। यह बड़ी पढ़ी-लिखी महिला थीं। क़स्बा मोहान ने विद्यार्जन ज्ञान की परंपरा थी ही, उन्होंने अपने क़स्बे की लड़कियों को लिखना-पढ़ना सिखाया और मोहान में नारी-शिक्षा की परंपरा उन्हीं से शुरू हुई।

यह इस ऐतबार से भी पहली **ख़ातून** हैं जो चेहरा खोलकर पर्दापोश लिबास में घर से बाहर निकलीं और हसरत के बंदी जीवन के दौरान जब कोई उनका हितचिंतक और हमदर्द न था, ख़ुद ही मुश्किलों पर क़ाबू पाया और उनका डटकर मुक़ाबला किया। हसरत को जेल में देखने जातीं, उनका हाल पूछतीं और उनको हर तरह से सांत्वना देकर उनकी हिम्मत बढ़ातीं। बेगम हसरत का यह किरदार रश्क के क़ाबिल है। बाद में हसरत ने साहित्यकर्म का हिस्सा राजनीति की भेंट कर दिया मगर उन जैसा क़लन्दर और मुजाहिद और जैसा शायर सदियों में कभी-कभार पैदा होता है। इस ज़िंदगी का लुत्फ़ इसी फ़क़ीरी और ख़ुद्दारी में है जिसका प्रदर्शन हसरत और बेगम हसरत दोनों ने किया है। इक़बाल का यह शे'र उनकी जीती जागती तस्वीर का मुँह बोलता अक्स है :

मेरा तरीक़ अमीरी नहीं फ़क़ीरी है
ख़ुदी न बेच, ग़रीबी में नाम पैदा कर

3
कृतित्त्व

मुशाहिदाते-ज़िन्दाँ

हसरत मोहानी 23 जून, 1908 को अलीगढ़ में गिरफ़्तार हुए। उसके दूसरे दिन और दूसरी बार बाल गंगाधर तिलक गिरफ़्तार हुए। तिलक को हसरत अपना राजनीतिक गुरु मानते थे और उनका बड़ा सम्मान करते थे। दोनों के ख़िलाफ़ बग़ावत का इल्ज़ाम था और दोनों को ही लेख लिखने के कारण सज़ा हुई थी। हसरत को दो साल की सज़ा और पाँच सौ रुपये जुर्माना और तिलक को बग़ावत के जुर्म में छह साल की सज़ा के लिए काले पानी भेज़ दिया गया। हसरत को जेल में जो तकलीफ़ें अंग्रेज़ी सरकार ने दीं उनका मुक़ाबला बड़ी दिलेरी और बहादुरी से उन्होंने किया। काले और गोरे का फ़र्क़ यूँ तो उस वक़्त हर जगह था मगर जेल में गोरों को बड़े आराम से रखा जाता था। उनको अलग कमरे और पलंग और साफ़-सुथरे बिस्तर दिये जाते थे, जबकि हिंदुस्तानियों को न कोई कमरा दिया जाता, न बिस्तर और खाना तो इतना ख़राब दिया जाता कि शायद जानवर भी उसको न खा सकें। यहाँ हसरत की ज़बानी क़ैदख़ानों की चंद झलकियाँ पेश की जा रही हैं ताकि यह अंदाज़ा लगाने में आसानी हो कि उस ज़माने में बर्तानवी हुकूमत हिंदुस्तानियों के साथ जेलों में क्या सुलूक करती थी और उनको खाने-पहनने के लिए क्या देती थी। हसरत का यह शेर बहुत मशहूर है, और हम जब भी यह शे'र पढ़ते हैं तो हसरत के साथ जेल में बर्ताव और उनके साथ ग़लत रवैये का जो प्रतिबिम्ब हमारे मानसपटल पर उभरता है उससे गहरे मानसिक कष्ट की अनुभूति होती है :

है मश्क़े-सुख़न जारी, चक्की की मशक़्क़त भी,
इक तुर्फ़ा तमाशा है हसरत की तबीअत भी।

यह शे'र **मुशाहिदाते-ज़िंदाँ** (जेल के संस्मरण) की मुँह बोलती तस्वीर का वह **अक्स** है जिसने अंग्रेज़ों के पाँव में लड़खड़ाहट पैदा कर दी और वह अपने भविष्य के बारे में सोचने और उसको सँवारने में लग गए। अब हसरत की **मुशाहिदाते-ज़िंदाँ** से चंद झलकियाँ पेश की जाती हैं :

"जेल में आग जलाने या हुक़्क़ा पीने की सख़्त मुमानिकअत (मना) है।

हमारी बैरक में जितने मुसलमान कैदी थे तक़रीबन सबने रोज़े रखे और सहरो-इफ़्तार (सूर्योदय से पूर्व और सूर्यास्त के बाद) के वक़्त यकजा (इकट्ठे) होकर खाना खाने का इन्तज़ाम कर लिया था। नमाज़े-ईद के बाद सारा दिन जुबली के तज़किरों की नज़्र हो गया ··· सुबह से शाम तक चक्की पीसना बजाए.खुद (अपने आप में) एक मुश्किल काम था ··· हर रोज़ सुबह को सब कैदी जाँघिया, कुर्ता, तसला, कटोरी चक्कीखाने के बाहर परेड में लगाकर सिर्फ लँगोटी बाँधे हुए अंदर दाखिल होते हैं।"

पोशाक : "पोशाक के बारे में यह हुक्म है कि हर शशमाही (छह महीने) में एक जोड़ा कपड़ा नया हर कैदी को दिया जाए लेकिन इलाहाबाद सेंट्रल जेल में इसकी मुतलक़ (कोई) पाबंदी नहीं की जाती और आम तौर पर कैदी चीथड़े लगाए फिरते हैं। काले कैदियों को एक लँगोट, एक जाँघिया, एक कुर्ता, एक टाट और एक टोपी के सिवा कुछ नहीं मिलता, जिसमें से टाट-कंम्बल सालहा साल के लिए और जाँघिया, कुर्ता क़ायदे से छह महीने के लिए लेकिन अज़ रू-ए-अमल (व्यवहार रूप में) साल भर बल्कि बाज़ औक़ात (कई बार) इससे भी ज़्यादा दिनों के लिए काफ़ी समझा जाता है। अगर इस दरम्यान में ये चीज़ें फट जाएँ या ख़राब हो जाएँ तो इसका ख़मियाज़ा भुगतना पड़ता रहता है। यही वजह है कि कैदी बग़र्जे-एहतियात (सावधानीपूर्वक) सिर्फ़ सुबह व शाम को उन्हें इस्तेमाल करते हैं। बाक़ी सारा दिन काम सिर्फ़ लँगोट बाँधकर किया करते हैं। बरख़िलाफ़ इसके गोरों को बूट के कई जोड़े मय मोज़ों के मिलते हैं, पहनने के लिए मुतअद्दद (अनेक) सूट, जिनको धोने के लिए अलहदा हिंदुस्तानी कैदी धोबी का काम करते हैं, लेटने के लिए मसहरी, उस पर गद्दा और चादर, ग़र्ज़ कि आराम की तमाम चीज़ें मुहैया की जाती हैं।"

खुराक : "कालों के लिए सुबह आध पाव चने बतौर नाश्ता दिए जाने का हुक्म है लेकिन उमूमन कैदियों को छटाँक-डेढ़ छटाँक से ज़्यादा नहीं मिलते थे। खाने में ज्वार, बाजरा, माश और गेहूँ के मख़्लूत (मिले-जुले) आटे की कच्ची रोटियाँ होती हैं जिसमें गेहूँ की मिक़दार (मात्रा) से कुछ ही कम मिट्टी मिली होती है। जेल की सख़्त मशक़्क़त से मिट्टी तो क्या है, कंकड़-पत्थर भी हज़म हो जाएँ, वरना किसी आज़ाद शख़्स का मेदा (पेट) इस रोटी को कुबूल नहीं कर सकता ··· रोटी के साथ खाने के लिए दोपहर की उबली हुई बे-दली अरहर उमूमन बे-रोग़नो-मिर्च (बिना तेल-मिर्च की) मिलती है और शाम को चौलाई का साग जिसकी अदना सिफ़त यह है कि फेंक दिए जाने पर कौए भी उसे नहीं सूँघते। तरकारी जो मुख़्तलिफ़ क़िस्म

की जेल में बोई जाती है रोज़ाना डालियों में मुलाज़िमाने-जेल (जेल-कर्मचारियों) के लिए भेज दी जाती है·· आम कैदियों को कभी उसकी सूरत भी देखने को नहीं मिलती। बरख़िलाफ़ इसके गोरों को नाश्ते के लिए डबल रोटी, चाय, शक्कर और खाने के लिए घी, गोश्त, तरकारी, चावल, दूध, ग़र्ज़ कि सब कुछ मिलता है, और काफ़ी मिक़दार (मात्रा) में मिलता है।"

रहने की जगह और दूसरी ज़रूरतें : "कालों के रहने के लिए बारकें हैं जिनमें बराबर-बराबर मिट्टी के धौले या ओटे (चबूतरे) बने होते हैं। जाड़ा, गर्मी, बरसात ग़र्ज़ कि हर मौसम में इन्हीं पर सोना चाहिए। सख़्त गर्मी के दिनों में काग़ज़ वग़ैरा का मस्नूई पंखा रखना मम्नू (मना) है। रात को पाखाने का कोई माकूल बंदोबस्त नहीं होता जिससे बाज़ औक़ात (कभी-कभी) सख़्त तकलीफ़ होती है। सुबह को जब बारक का दरवाज़ा खुलता है तो सब क़ैदी एक साथ पाख़ाने जाते हैं जिसका नतीजा यह होता है कि सीधे-सादे क़ैदी को आख़िर तक मुन्तज़िर रहना पड़ता है। बरख़िलाफ़ इसके गोरों के लिए फ़ी एक कमरा अलहदा मिलता है जिसमें एक आहनी (लोहे का) पलँग गद्देदार, एक मेज़, एक स्टूल, एक लैम्प और हर कमरे के साथ ग़ुसलख़ाना और एक पाख़ाना मौजूद होता है। ग़ुसलख़ाने में तौलिया, साबुन हर शै मौजूद रहती है। रात को लैम्प की रोशनी में और दिन को फ़ुरसत के औक़ात में गोरे क़ैदी किताबें और कभी-कभी अख़बार बेतकल्लुफ़ देखते हैं। उनके लिखने को दवात-क़लम हर वक़्त मौजूद रहता है, हालाँकि कालों के लिए किताब देखना तो दरकिनार, अगर उनके पास एक काग़ज़ के पुर्ज़े का भी शुब्हा हो तो क़यामत आ जाए। चुनाँचे राक़िमे-हरूफ़ (इन पंक्तियों के लेखक) की एक बार इसी शुब्हे में योरपियन वार्ड के हुक्म से (जामा) तलाशी ली गई मगर कुछ बरामद नहीं हुआ।

"सबसे बड़ा तमाशा यह है कि हर योरपियन क़ैदी के कमरे में दो हिंदुस्तानी क़ैदी रात भर पंखा कुली का काम देते हैं। बारह बजे तक एक, और फिर सुबह तक दूसरा क़ैदी पंखा खींचा करता है।"

अवकाश : "जेलख़ानों में आम तौर पर इतवार के रोज़ तातील (अवकाश) का दस्तूर है लेकिन इलाहाबाद सेंट्रल जेल में चक्की पीसने वाले के सिवा बाक़ी और क़ैदियों को इस रिआयत से फ़ायदा उठाने का मौक़ा शाज़ो-नादिर (बिरले ही) मिलता है, लेकिन हुक्कामे-जेल (जेल अधिकारी) की हिर्स (लालच) क़ैदियों को हफ़्ते में एक दिन की भी फ़ुर्सत देना गवारा नहीं करती क्योंकि हुकूमत ने क़ैदख़ानों को अच्छे-ख़ासे

कारखानों की सूरत में तब्दील कर दिया है जिनका एक रोज़ के लिए बंद रहना जेल की माली आमदनी में कमी वाक़े होने इसलिए आख़िरे-साल (वर्ष के अंत) पर हुक्कामे-जेल की हुस्ने-कारगुज़ारी में नुक़्स पैदा करने का मूजिब (कारण) हो सकता है।

"मुसलमानों के साथ तो ऐसी बे-एतनाई और ईसाइयों पर यह मरहमत (कृपा) कि बड़े दिन की तक़रीब में क़ैदियों को छुट्टी के अलावा फ़ी कस (प्रति व्यक्ति) आध-आध पाव गुड़ भी तक़सीम किया जाता है। बड़े दिन को हुक्कामे-जेल की जानिब से इन सबकी दावत की जाती है और तरह-तरह की मिठाइयाँ, मेवे और सिगरेट तक़सीम किए जाते हैं। नमाज़ पढ़ाने के लिए पादरी बराबर आया करता है। मुसलमान ग़रीब अगर बजाए-ख़ुद भी चाहते हैं तो क़वाइदे-हयाए-शरीअत के ख़िलाफ़ उन्हें मजबूरन ब-हालते-नीम-बरहनगी (अर्ध नग्न अवस्था में) नमाज़ अदा करनी पड़ती है।

"रहा सुपरिंटेंडेंट जेल। उस तक अव्वल तो किसी की रसाई (पहुँच) नहीं होती, या अगर परेड वग़ैरा के मौक़े पर कुछ कहने-सुनने का मौक़ा मिलता है तो नायब जेलर की ग़ज़ब आलूद निगाह के असर से उज़्र (आपत्ति) करने वाले के होशो-हवास इब्तिदा ही में ग़ायब हो जाते हैं। इस पर भी अगर किसी ने जी मज़बूत करके कुछ अर्ज़ किया तो सुपरिंटेंडेंट साहब बहादुर इसका मतलब अंग्रेज़ी में नायब जेलर साहब से दरियाफ़्त करते हैं जो इस क़ैदी की शिकायत को अपनी तशरीहों (व्याख्याओं) और तौजीहों (विवरणों) के साथ मिलाकर इस शक्ल में पेश करता है कि अक्सर उस ग़रीब को लेने के देने पड़ जाते हैं।"

इंस्पेक्टर द्वारा जेल का मुआयना : "साल में दो बार इंस्पेक्टर जनरल साहब भी जेलख़ानों का मुआयना फ़रमाते हैं। उनकी फ़रियादरसी और इन्साफ़पसंदी (शिकायत सुनने और न्यायप्रियता) का फ़साना और भी ज़्यादा अजीबो-ग़रीब है। जेल में आपकी आमद का हंगामा क़यामत से कम नहीं होता। महीने-डेढ़ महीने पहले आपके मुलाहिज़े के लिए क़ैदियों को जेल की क़वायद सिखाई जाती है। क़वायद के दौरान में अगर कभी नायब जेलर तशरीफ़ ले आए तो गोया एक और बला नाज़िल हुई। हंटर आपके हाथ में होता है और बेरहमी आपके दिल में। ज़रा भी किसी से कोई ग़लती हुई कि आपने बिना तकल्लुफ़ एक हंटर रसीद किया ··· महकमा-ए-जेल के एक अदना मुलाज़िम से लेकर इंस्पेक्टर जनरल तक सबके सब बेरहमी और बेपरवाही के यकसाँ रंग में रंगे हुए होते हैं।" (**क़ैदे-फ़िरंग**, पृ० 92-93)

हसरत ने अपने बंदी जीवन की घटनाएँ **मुशाहिदाते-ज़िंदाँ** में तफ़सील से बयान किए हैं और ऊपर के उद्धरण वहीं से लिये गए हैं। इनका अध्ययन करने से अंदाज़ा होता है कि उनको लगातार तकलीफ़ों और परेशानियों का सामना करना पड़ा और जो दुख और मुसीबतें उन्होंने झेलीं उनको पढ़कर कलेजा मुँह को आता है। यह सब कुछ उन्होंने फ़िरंगियों की हिंदुस्तानियों के साथ ज़ुल्मो-सितम ढाने के ख़िलाफ़ किया था मगर हिंदुस्तान आज़ाद होने के बाद उन्हें कुछ नहीं मिला। जब पहली बार उनको अलीगढ़ में गिरफ़्तार किया गया उस वक़्त हसरत की दूध पीती बच्ची नईमा सख़्त बीमार थी और घर पर उनकी बीवी निशातुन्निशा बेगम और एक मुलाज़िमा के सिवा कोई और न था। आर्थिक हालत बेहद ख़राब थी। कुल आमदनी पचास रुपये से ज़्यादा न थी और वह भी **उर्दू-ए मुअल्ला** के प्रकाशन पर टिकी थी। उस तक्त **उर्दू-ए मुअल्ला** के पाँच सौ से ज्यादा ग्राहक न थे। आरिफ़ हसवी उनकी आर्थिक दशा के बारे में लिखते हैं :

> "उनकी आमदनी इब्तिदा से इस वक़्त तक (गिरफ़्तारी के वक़्त तक) कभी शायद पचास रुपये से ज़ाइद नहीं हुई। **उर्दू-ए मुअल्ला** की महदूद (सीमित) आमदनी पर मौलाना क़ाने थे (संतोष करते थे) और **उर्दू-ए मुअल्ला** की इशाअत पाँच सौ से ज़्यादा कभी नहीं हुई। बस यही एक आमदनी थी जिस पर हसरत अपने अहलो-अयाल के साथ ज़िंदगी बसर करते थे। जेल जाने के बाद **उर्दू-ए मुअल्ला** बंद हो गया और यह थोड़ी-बहुत आमदनी भी जाती रही। ख़ुदा ही जानता है कि उस वक़्त बेगम हसरत मोहानी और उनकी शीरख़्वार (दूध पीती) बच्ची ने क्योंकर दिन गुज़ारे।"[18]

एक मालदार घराने की लड़की ने हसरत के जेल जाने के बाद बड़ी तंगदस्ती में दिन गुज़ारे। मगर क्या मजाल जो किसी के सामने हाथ फैलाया हो। हसरत की तरह वह भी बड़ी स्वाभिमानी थी। हर क़िस्म की तकलीफ़ों और मुश्किलों को बहादुरी और धैर्य के साथ बर्दाश्त करने में दूसरी मिसाल मुश्किल से मिलेगी। अलीगढ़ में निशातुन्निसा बेगम को मुश्किल से पाँच साल भी न हुए थे कि हसरत को जेल जाना पड़ा और बेगम के लिए यह वक़्त बड़ी आज़माइश का था। अलीगढ़ कॉलेज और उसके बाहर हसरत के हमदर्दों की कमी न थी मगर हुकूमत के डर से उनके हमदर्दों की हिम्मतें पस्त रहती थीं। यहाँ तक कि क़रीबी दोस्त और आत्मीयजन भी कतराने लगे थे। निशातुन्निसा बेगम ने अकेले इन सबका मुकाबला किया और कठिनाइयों पर क़ाबू पाया।

हसरत ने **मुशाहिदाते-ज़िंदाँ** में क़ैदखाने के मुशाहिदात बड़ी तफ़सील से लिखे हैं। क़ैदियों से बर्ताव, उनके रहने की जगहें (बैरकें), चक्की की मशक़्क़त,

मश्क़े-सुख़न (काव्य-साधना), बंदा अहीर, इतवार का अवकाश, इंस्पेक्टर जनरल का मुआयना, हडसन बाबा, जीवनसंगी, स्वामी शिवानंद और गोरे-काले का भेद इन सबका भरपूर जायज़ा इस किताब में उन्होंने पेश किया है।

तज़किरा लेखन

उर्दू में तज़किरा-निगारी की कला कब शुरू हुई और कौन सा पहला तज़किरा लिखा गया यह कहना मुश्किल है, लेकिन उर्दू शायरों के तज़किरे फ़ारसी जबान में लिखने का आम रिवाज था। इनमें 'नुकातुश्शुअरा', 'तुहफ़तश्शुअरा' और 'गुलशने-गुफ़्तार' के नाम लिये जा सकते हैं। ये तीनों तज़किरे उर्दू शायरों के फ़ारसी में 1165 हिजरी सन् में लिखे गए। इनमें मीर तक़ी मीर के 'नुकातुश्शुअरा' को कई ऐतबार से प्रमुखता प्राप्त है। हसरत मोहानी ने उर्दू के ऐसे शायरों के तज़किरे लिखे जिनका ज़िक्र दूसरे तज़किरों में नहीं के बराबर था और जिनसे उर्दूदाँ तबक़ा बहुत कम वाक़िफ़ था.। शायरों के तज़किरे लिखने का चस्का उनको छात्र-जीवन में ही पड़ गया था। उस ज़माने में उन्होंने पाँच उर्दू शायरों के तज़किरे लिखे थे जिनके नाम नसीम, रिन्द, मुनीर, सालिक और मीर के बहत्तर नश्तर हैं। ये पाँचों तज़किरे उन्होंने **अंजुमन उर्दू ए मुअल्ला** के जलसों में पढ़े थे। लेकिन हसरत तज़किरानिगारी के मैदान में बाक़ायदा तौरे पर उस वक़्त आए जब उन्होंने **उर्दू-ए मुअल्ला** जारी किया। इसके पहले अंक में तज़किरा लिखने की अहमियत और उसकी ज़रूरत को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा :

> "आज़ाद के दर्दमंदों को उर्दू की मुहब्बत ने मजबूर किया, तज़किरा 'आबे-हयात' लिखा गया और हक़ यह है कि बे-मिस्ल लिखा गया। यह इसी की बदौलत है कि कभी-कभी मुसहफ़ी का नाम ज़बानों पर आ जाता है। जिस तरह आज़ाद ने मुसहफ़ी का नाम रौशन किया—ख़ुदा उनकी शोहरत ता-क़यामत क़ायम रखे-लेकिन बन्दा-ए हसरत की आरज़ू कहती है कि मुसहफ़ी की तरह उनके शागिर्द हविस, शहीदी, ऐशी, गाफ़िल, गर्म, मुज़्तर, तन्हा भी अपने कमाल की क्यूँ न दाद पाएँ। आज़ाद पर ज़ौक़-ओ-मोमिन-ओ-ग़ालिब का हक़ था, हसरत पर नसीम, तस्लीम और अमीर का हक़ है।"[19]

इस भावना से हसरत ने उर्दू शायरों के तज़किरे लिखने शुरू कर दिए और काफ़ी शायरों के लिखे और दूसरों से भी **उर्दू-ए मुअल्ला** के लिए लिखवाए। हसरत के तज़किरों में शायर के जीवन वृत्तांत के अलावा व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों की जानकारी और समीक्षा मिलती है। इसके अलावा हसरत की नज़र शायर के राजनीतिक पहलू पर भी रहती है। उन्होंने **तज़किरतुश्शुअरा** शीर्षक से

दस शायरों का विस्तृत तज़किरा लिखा जिनमें हातिम, सौदा, क़ायम, मुसहफ़ी, नसीर, ज़ौक़, मोमिन, ग़ालिब, नसीम और तस्लीम शामिल हैं। यह तज़किरा डॉ. अहमद लारी ने संपादित करके प्रकाशित कर दिया है। हसरत ने उनके कलाम पर विस्तार से बहस भी की है जो उनकी आलोचनात्मक प्रतिभा का बेहतरीन सबूत है। इन तज़किरों में एक ख़ास बात यह मिलती है कि जिन शायरों के तज़किरे उन्होंने लिखे हैं उनमें लेखन-शैली इतनी साफ़-सुथरी और परिमार्जित है जो इल्मी और अदबी ऐतबार से बड़ा महत्त्व रखती है। इसके अलावा हसरत की कृति 'नुकाते-सुख़न' उनकी आलोचनात्मक प्रतिभा का ठोस प्रमाण है।

इन्तिख़ाबे-सुख़न

हसरत बी.ए. करने के बाद अलीगढ़ कॉलेज से शहर में आकर रहने लगे और यहाँ से **उर्दू-ए मुअल्ला** जारी किया। इसके बारे में पहले बताया जा चुका है। हसरत ने इस पत्र के माध्यम से दो अहम काम अंजाम दिए। इनमें से एक काम शायरों के पुराने दीवानों (काव्य संकलनों) की तलाश था, दूसरा था उनका अध्ययन करके उनके काव्य की विद्वतापूर्ण समीक्षा करना। इनमें उस्ताद शायर भी शामिल थे और परिचित-अपरिचित शायर भी। इस तरह हसरत का उर्दू साहित्य पर बड़ा अहसान है कि उन्होंने बीसियों उस्तादों के काम को विस्मृति के गर्भ में जाने से रोका और उनके जीवन और कृतित्त्व से उर्दूभाषियों को परिचित कराया। उनके काव्य की समीक्षा करके समीक्षा की परम्परा की नींव डाली। असम में **उर्दू-ए मुअल्ला** का सबसे बड़ा कारनामा उस्तादों का जीवन-परिचय देना और कृतित्त्व का चयन करना है। हसरत के बाद दूसरा नाम बाबा-ए उर्दू मौलवी अबुदल हक़ का है जिन्होंने उर्दू शायरों के तज़किरों को ढूँढ़ निकाला और उनके काव्य पर आधारित भूमिकाएँ लिखी और भूमिका लेखन की बुनियाद रखी। हसरत ने **उर्दू-ए मुअल्ला** से परिचित और अपरिचित शायरों की जीवनी और उनकी शायरी का चयन अलग से **इन्तिख़ाबे-सुख़न** के नाम से ग्यारह खण्डों में प्रकाशित किये। ये खण्ड इस तरह से संयोजित किए गए थे :

पहला खंड : हातिम और उनका सिलसिला अथवा शिष्य परंपरा (हातिम, बक़ा, रंगीन, निसार, बेदार, ताबाँ माहिर, बेताब, इशरत, तालिब, मारूफ, अमीर, अफ़सर, शाह नसीर, सौदा, क़ाइम, नवा बदायूँनी, तनवीर देहलवी, ज़फ़र देहलवी, शादाँ)

दूसरा खंड : ज़ौक़ और उनका सिलसिला (ज़ौक, दाग़, रसा, जिगर, रौनक़ टोंकी, हसन बरेलवी, नूह नारवी, नसीम भरतपुरी,

बेखुद देहलवी, बेखुद बदायूँनी, ज़हीर, देहलवी, अनवर देहलवी, मज़ाक़ बदायूँनी, माइल देहलवी, सीमाब, कैफ़ी, अज़ीज़ हैदराबादी)

तीसरा खंड : मोमिन और उनका सिलसिला (मोमिन, नसीम, तस्लीम, हसरत मोहानी, शेफ़्ता, अशरफ़ कसमंडवी, क़लक़ मेरठी, ख़ैराती लाल शिगुफ़्ता, मेहर लखनवी, असग़र गोंडवी, अर्श गयावी, हादी मछलीशहरी, शफ़ीक़ जौनपुरी)

चौथा खंड : मज़हर और उनका सिलसिला (मज़हर जाने जानाँ, हयात मुहम्मद हसरत, यक़ीन, बयान, शायर, हज़ीं), मीर, दर्द और सोज़ का सिलसिला (मीर, रासिख़ अज़ीमाबादी, मीर हसन, दर्द, मीर असर, मीर सोज़, अफ़सोस, अमानत, लताफ़त, फ़साहत)

पाँचवाँ खंड : जुरअत और उनका सिलसिला (हसरत, जुरअत, ग़ज़नफ़र, रज़ा, रिक़्क़त, रिज़वी, मेहनत, नुसरत, मारूफ़, मुहब्बत, जलाल, माइल, शाइक़, नस्साख़ रज़ा अली वहशत)

छठा खंड : मुसहफ़ी और उनका सिलसिला (मुसहफ़ी, मसरूर, मुन्तज़र, हविस, मख़्मूर, ऐशी, ग़ाफ़िल, शहीदी, तनहा, नौबत राय मुन्तज़र)

सातवाँ खंड : आतिश और उनका सिलसिला (आतिश, माह, सबा, हिना, क़मर मोहानी, फ़रोग़ लखनवी, रिन्द, ख़लील, शर्फ़, हैरत, अकबर दानापुरी, अकबर इलाहाबादी, कैफ़, अज़ल)

आठवाँ खंड : असीर और अमीर और उनका सिलसिला (असीर, अमीर, जलील, वास्ती, माहिर, जर्रार, अफ़सूँ, शौक़, क़िदवई, हफ़ीज़ जौनपुरी, गुस्ताख़ रामपुरी, मुज़्तर ख़ैराबादी, बेनज़ीर शाह वारसी, मस्त बनारसी, सफ़दर रामपुरी, जाह कानपुरी, कल्बे अली ख़ाँ नवाब, जिगर बिस्वानी, शफ़क़ इमादी, बिशन नरायन दर अब्र, दिल शाहजहाँपुरी, अहसन सम्भी, शर्फ़ मुजद्दिदी, वफ़ा रामपुरी, मिस्बाह मुजद्दिदी)

नवाँ खंड : नासिख़ और उनका सिलसिला (नासिख़, बर्क़, जलाल, आरज़ू, रश्क़, क़ुबूल, सहर, वज़ीर, मीर कल्लू अर्श,

नादिर, मेहर, आबाद, नूर, तअश्शुक़, क़लक़, आसी सिकंदरपुरी, हातिम अली मेहर, गोया, क़द्र बिल्ग्रामी, हबीब किन्तूरी, शाद पैरवे मीर, अफ़ज़ल इलाहाबादी, फ़िदा अली ऐश, शमशाद, मुनीर शिकोहाबादी, समीर, असहान शाहजहाँपुरी, पास लखनवी, दिलेर फ़र्रुखाबादी)

दसवाँ खंड : ग़ालिब और उनका सिलसिला (ग़ालिब, मजरूह, हाली, सालिक, ज़की, इस्माईल, शोला, रश्की, नाज़िम, आशिक़, नाज़िश)

ग्यारहवाँ खंड : विभिन्न शायर (वली, आबरू, मम्नून, इन्शा, फ़रासू फ़िरंगी, सादिक़ ख़ाँ अख़्तर, क़ादिर बख़्श साबिर, ज़की मुरादाबादी, वाजिद अली शाह अख़्तर, ताहिर फ़र्रुख़ाबादी, मुश्ताक़ लखनवी, शाद अज़ीमाबादी, कामिल लखनवी, क़मर बदायूँनी, नज़्म तबातबाई, ज़फ़र अली ख़ाँ, मजाज़, बहज़ाद लखनवी, तौफ़ीक़ हैदराबादी, फ़ुग़ाँ, रासिख़, देहलवी, रौनक़ देहलवी, समीम बुलंदशहरी, नुदरत मेरठी, फ़ानी, अज़ीज़, महशर)

इन ग्यारह खंडों को पढ़ने से अनुमान होता है कि हसरत का अध्ययन कितना गहरा और विस्तृत था और उन्होंने पुराने शायरों के दीवानों (संकलनों) की तलाश करके उन पर समालोचना लिखी और उनका चयन किया। हसरत को शायरों के काव्य का चयन करने में बड़ी मेहनत करनी पड़ी और बहुत सर खपाना पड़ा। इन आलोचनात्मक लेखों के प्रकाशन से उर्दू जानने वाले तबक़े में पढ़ने- लिखने की चेतना जाग्रत हुई और इस तरह साहित्याभिरुचि को फैलाने में इस पत्र की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण रही। इस पत्र की सबसे बड़ी खूबी यह रही कि इसमें बहुत से ऐसे कवियों का चयन छपा जो इससे पहले कभी नहीं छपा था या छपा भी तो दुर्लभ था। **इन्तिख़ाबे-सुख़न** के ग्यारहवें खंड में अलग-अलग उस्तादों को शामिल किया है जिनमें वली, आबरू, अख़्तर, मम्नून और नज़्म तबातबाई की जीवनी और काव्य-चयन शामिल है।

4
शायरी

हसरत की शायरी का आरंभ मोहान क़स्बे से हुआ जहाँ वह अपने दोस्त सैयद अक़बर हसन के साथ बचपन में खेला करते थे और मिठाइयाँ खाने के दौरान शे'रो-शायरी भी होती थी। अकबर हसन का बयान है कि वह अक्सर अपनी ग़ज़लें सुनाया करते। आवाज़ बहुत बारीक थी, बिल्कुल झींगुर से मिलती-जुलती. तरन्नुम से पढ़ने की कोशिश करते मगर आवाज़ बिल्कुल मौज़ूँ न होती। उनके काव्य का विकास फ़तहपुर में हुआ जहाँ कुछ विशिष्ट मित्रों की संगत में साहित्यिक अभिरुचि पैदा हुई जो उम्र के साथ बढ़ती गई। फ़तहपुर में इन्टर पास करने के बाद अलीगढ़ में प्रवेश लिया और वहाँ के इल्मी और अदबी माहौल ने उनकी अभिरुचि को और संपन्न किया। 1896 में हसरत लखनऊ गए जहाँ लखनऊ स्कूल को ग़ौर से देखने का मौक़ा मिला। उस वक़्त जलाल लखनवी, अमीर मीनाई और तस्लीम के स्कूल ख़ास तौर पर मशहूर थे। जलाल और अमीर मीनाई के स्कूलों में दोबारा जाने का रुख़ नहीं किया, अलबत्ता तस्लीम की सेवा में उपस्थित होते रहे, उनके काव्य से प्रभावित हुए और उनके शागिर्द हो गए। शायर तो वह पहले ही से थे मगर उस्ताद की नोक-पलक ने हसरत को और पुख़्ता शायर बना दिया।

हसरत के पूरे दीवान में मौत का ज़िक्र कहीं नज़र नहीं आता। वह इश्क़िया शायरी के ताने-बाने में और ज़िंदगी के तक़ाजों को पूरा करने में इस क़दर व्यस्त रहे कि मौत की तरफ़ ध्यान देने का मौक़ा ही न मिला। उनका ईमान था कि इश्क़ मौत पर फ़तह पा सकता है। हसरत ने अपनी तमाम ज़िंदगी राजनीति को भेंट कर दी, मगर कितने ऐसे लोग हैं जो उनको राजनेता की हैसियत से जानते हैं और उनके कारनामों को याद करते हैं ? उनका नाम शेरो-सुख़न की बदौलत साहित्य में ज़िंदा है, हालाँकि उन्होंने अपना सब कुछ राजनीति की वेदी पर न्यौछावर कर दिया था। 1939 में हसरत पश्चिम एशिया के दौरे पर गए और वहाँ से पहली बार यूरोप गए। रास्ते में जहाज़ पर साइप्रस की एक महिला उनकी हमसफ़र थी जिसके सौंदर्य से उनका कवि हृदय अभिभूत हो उठा। हसरत ने इसका इज़हार एक ग़ज़ल में किया है। उन्होंने सफ़र में अपनी हमसफ़र से कोई बातचीत नहीं की बल्कि उसके बारे में दूसरों से जानकारी प्राप्त करके उसको कविता के साँचे में ढाला है। कुछ शे'र :

रानाई में हिस्सा है जो क़ब्रस की परी का
नज़्ज़ारा है मसहूर उसी जलवागरी का

रफ़्तार क़यामत यूँ ही क्या कम थी फिर उस पर
इक तुर्रा है फ़ितना तेरी नाजुक-कमरी का

जब से यह सुना है कि वो साकिन हैं यहीं के
आलम है अजब शौक़ की आशुफ़्ता सरी का

साथ उनके जो हम आए थे बेरूत से हसरत
यह रोग नतीजा है उसी हमसफ़री का

हसरत ने आशिक़ाना ज़िंदगी की बड़ी अच्छी तस्वीर उतारी है। उनकी कई नज़्मनुमा ग़ज़लें इसका सबूत देती हैं। एक नज़्मनुमा ग़ज़ल के कुछ शे'र देखिए :

चुपके-चुपके रात-दिन आँसू बहाना याद है
हमको अब तक आशिक़ी को वो ज़माना याद है

तुझसे कुछ मिलते ही वो बेबाक हो जाना मिरा
और तिरा दाँतों में वो उँगली दबाना याद है

खेंच लेना वो मिरा पर्दे का कोना दफ़अतन
और दुपट्टे से तिरा वो मुँह छिपाना याद है

ग़ैर की नज़रों से बचकर सबकी मर्ज़ी के ख़िलाफ़
वो तिरा चोरी-छुपे रातों को आना याद है

चोरी-चोरी हमसे तुम आकर मिले थे जिस जगह
मुद्दतें गुज़रीं पर अब तक वो ठिकाना याद है

इन शे'रों को पढ़कर दिल पर एक अजीब कैफ़ियत पैदा होती है। हसरत अपने महबूब (प्रियतम) की पुरानी यादों को उभारने में कमाल रखते हैं और उन यादों की क़द्रों के बयान करने का उनको ख़ास सलीक़ा है। छोटी-छोटी बहरों में बड़े-बड़े विषयों को समेट लेना उनकी कला का प्रमुख गुण है। उनकी इश्क़िया शायरी का मुक़ाबला इस दौर के किसी शायर से नहीं किया जा सकता। अलबत्ता अपने पूर्ववर्तियों में मीर, ग़ालिब, मोमिन, मुसहफ़ी की उस्तादी के क़ायल है। कहते हैं :

शे'र मेरे भी है पुरदर्द व लेकिन हसरत
'मीर' का शेवा-ए-गुफ़्तार कहाँ से लाऊँ

तर्ज़े-मोमिन पे मरहबा हसरत
तेरी रंगीं बयानियाँ न गईं

उर्दू ग़ज़ल को अपने पूर्ववर्तियों के बाद हसरत ही ने ज़िंदा किया और उसको नया स्वर और नई भाषा दी। उन्होंने नई ग़ज़ल के नए उसूल सामने रखे और उसका सही रास्ता तय किया। वह सच्चे अर्थों में नई ग़ज़ल के रहस्य को जानने वाले शायर हैं। हसरत की शायरी का रिश्ता मोमिन के ख़ानदान से जा मिलता है। उनके यहाँ मोमिन की नाज़ुक ख़याली और तरकीबों की बंदिश और घुलावट जगह-जगह अपनी बहारें दिखाती है। हसरत की शायरी की एक बड़ी ख़ूबी यह है कि वह शायरी के अरूज़ (छंद विधान व बहर-व्यवस्था) और नियमों से पूरी तरह वाक़िफ़ थे। उनकी समीक्षात्मक प्रतिभा और गहन अध्ययन ने उन्हें शब्दों के सही प्रयोग का आदी बना दिया था। यही वजह थी कि उन्होंने पुराने शायरों के कलाम का अध्ययन कर उन पर समीक्षात्मक आलेख **उर्दू-ए मुअल्ला** में लिखे, बल्कि नई शायरी का रिश्ता क्लासिकी शायरी से ऐसा जोड़ दिया जो उसकी काव्यात्मक समृद्धि में मदद देता है। उन्होंने मीर व मुसहफ़ी से भी सीखा है और ग़ालिब, नसीम व मोमिन से भी। ये प्रभाव उनकी शायरी में जगह-जगह नज़र आते हैं :

शे'र से तेरे, हुई मुसहफ़ी-ओ-मीर के बाद
ताज़ा, हसरत, असरो-हुस्ने-बयान की रौनक़
ग़ालिब-ओ-मुसहफ़ी-ओ-मीर-ओ-नसीम-ओ-मोमिन
तबअ-ए-हसरत ने उठाया है हर उस्ताद से फ़ैज़

हसरत का अपना रूप है और अपना अलग रंग है जिसमें गहराई और वैयक्तिक वैशिष्ट्य है। उनसे पहले अज़ीज़, साक़िब और सफ़ी लखनवी की शायरी का डंका बज रहा था। हसरत ने अपना वैशिष्ट्य मनवाने के लिए अपना *रास्ता इन सबसे अलग पकड़ा। काफ़ी ज़िंदगी बंदीगृह में काटी और इन पचड़ों* में जिन मुसीबतों और कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, वह उनकी शायरी में कहीं नज़र नहीं आता। न कहीं कटुता और व्यंग्य की वारदातें मिलती हैं। बल्कि उनकी शायरी में ऐसा रचाव और अछूतापन है जो पाठक को अपनी ओर आकर्षित करता है। उन्होंने अपनी शायरी के ज़रिए हुस्नो-इश्क़ की दास्तान इस अंदाज़ से बयान की है कि पाठक उसको पढ़कर मायूसी महसूस नहीं करता।

रशीद अहमद सिद्दीक़ी ने ग़ज़ल को उर्दू शायरी की आबरू बिल्कुल सही कहा है। यह ऐसी विधा है जिसमें शायर के स्वभाव, चेहरा-मोहरा और उसकी शायरी के तेवर किसी हद तक आसानी से नज़र आ जाते हैं। मीर से लेकर **अब तक जितने** ग़ज़ल के उस्ताद गुज़रे हैं उनकी आवाज़ में एक-दूसरे की गूँज

सुनाई नहीं देती। उनकी अपनी विशिष्टता है जिसे महसूस किया जा सकता है। हसरत के यहाँ न पूरी तरह आंतरिकता है न पूरी तरह लौकिकता। बल्कि उनके यहाँ दो रंगों के मिलाप से तीसरा रंग प्रकट होता है जो पहले दो रंगों से अलग होता है। हसरत अपने इसी रंग से पहचाने जाते हैं। इसमें मीर की सादगी, ग़ालिब की पुरकारी, मोमिन की ताज़गी और जुरअत की कथात्मकता पाई जाती है। नासिख़ और ज़ौक़ के शिल्प की खूबियाँ भी नज़र आती हैं। उन्होंने दूसरों के सामान से अपनी दुकान नहीं सजाई बल्कि अपने सामान को ऐसे क़रीने से सजाकर रखा है कि ग्राहक उनकी दुकान से ख़रीदे बग़ैर आगे नहीं बढ़ता। यह सब खूबियाँ उनके यहाँ उर्दू के उस्तादों के काव्य-भंडार के गहन अध्ययन का परिणाम हैं। हसरत ने चिंतन-तत्त्व से ज़्यादा कलात्मकता पर ज़ोर दिया है, जिसकी वजह से उनके कलाम में एक विशिष्टता पैदा हुई। ये चंद शे'र इसी वैशिष्ट्य को प्रमाणित करते हैं :

निगाहें-यार जिसे आशनाए-राज़ करे
वो अपनी ख़ूबिए-किस्मत पे क्यों न नाज़ करे

दिलों को फ़िक्रे-दो आलम से कर दिया आज़ाद
तिरे जुनूँ का खुदा सिलसिला दराज़ करे

ख़िरद का नाम जुनूँ रख दिया, जुनूँ का ख़िरद
जो चाहे आपका हुस्ने-करिश्मा साज़ करे

बढ़ गईं तुमसे मिलकर और भी बेताबियाँ
हम ये समझे थे कि अब दिल को शकेबा कर दिया

यह भी आदाबे-मुहब्बत ने गवारा न किया
उनकी तस्वीर भी आँखों से लगाई जाती

हसरत एक ओर उर्दू के गौरवशाली शायर थे तो दूसरी ओर परिपक्व दृष्टि से सम्पन्न आलोचक।

पाद टिप्पणियाँ

1. ज़मीर अहमद हाशमी, **औराक़े-गुल**, पृ. 161; डॉ. अहमद लारी, **हसरत मोहानी-हयात और कारनामे**, पृ. 68
2. डा. अहमद लारी, **हसरत मोहानी-हयात और कारनामे**, पृ. 65
3. नियाज़ फ़तहपुरी, 'तज़किरा-ए हसरत', **निगार** (हसरत अंक), 1952, पृ. 7
4. डॉ. अहमद लारी, **वही**

5-7. अतीक सिद्दीक़ी, **बेगम हसरत मोहानी और उनके ख़ुतूत**, पृ. 26,55 और 80

8. ख़्वाजा हसन निज़ामी, 'मशाहीरे-हिंद' लेख डॉ. लारी द्वारा उद्धृत, पृ. 146-147

9. मौलाना मुहम्मद अली का बेगम हसरत के नाम छिंदवाड़ा से 22 फ़रवरी, 1918 को लिखा गया पत्र, डॉ. लारी द्वारा उद्धृत, पृ. 146

10. अतीक़ सिद्दीक़ी, पृ. 49

11. **निगार** (हसरत अंक), 1952, पृ. 26

12. कृष्ण बलदेव शर्मा, 'हसरत मोहानी', **आजकल** (हसरत अंक), अगस्त-सितंबर, 1981

13. मौलाना सुलेमान नदवी, 'हसरत की सियासी ज़िंदगी', **निगार** (हसरत अंक), 1976, पृ. 59

14. जगन्नाथ आज़ाद, **अब जिनके देखने को आँखें**, पृ. 8

15. 'हसरत की इल्मी व अमली ज़िंदगी', **निगार** (हसरत अंक), 1952, पृ. 39

16. डा. अहमद लारी, **वही**

17. **निगार** (हसरत अंक), लखनऊ, 1951

18. आरिफ़ हसवी, **हालाते-हसरत**, पृ. 23

19. **उर्दू-ए मुअल्ला**, 1 जुलाई, 1903

5
चयन

हसरत मोहानी के संपूर्ण कृतित्त्व में बारह हिस्से शायरी के और अंत में दो परिशिष्ट शामिल हैं। पहले हिस्से में 1894 से 1903 तक, दूसरे परिशिष्ट में 1941 से 1942 तक और अंत में 1941 से 1950 तक का काव्य शमिल है। उनके यहाँ हर दौर में अच्छे शे'र मिलते हैं, मगर 1894 से 1916 तक के कलाम का लुत्फ़ बाद के कलाम से ज़्यादा शोहरत का कारण बना। हसरत-समग्र में क़रीब छह हज़ार शेर शामिल हैं। इन बारह दीवानों में उन्होंने वर्णमाला की हर रदीफ़ में शे'र कहे हैं। उनके यहाँ अच्छे और उम्दा शे'रों की तादाद काफ़ी है।

यहाँ जो चयन पेश किया गया है वह शुरू के बारह दीवानों से है। क्रम रदीफ़ के अंतिम वर्णानुसार है। अंत में 1894 से 1903 तक के आरंभिक कलाम का चयन दिया गया है।

हुस्ने-बेपरवा को ख़ुदबीनो-ख़ुदआरा कर दिया
क्या किया मैंने कि इज़हारे-तमन्ना कर दिया
बढ़ गईं तुमसे तो मिलकर और भी बेताबियाँ
हम ये समझे थे कि अब दिल को शकेबा कर दिया
पढ़ के तेरा ख़त मेरे दिल की अजब हालत हुई
इज़्तिराबे-शौक़ ने इक हस्र बरपा दिया
अब नहीं दिल को किसी सूरत किसी पहलू क़रार
उस निगाहे-नाज़ ने क्या सहर ऐसा कर दिया
इश्क़ से तेरे बढ़े क्या-क्या दिलों के मर्तबे
मिहर ज़र्रों को किया क़तरों को दरिया कर दिया
क्यों न हो तेरी मुहब्बत से मुनव्वर जानो-दिल
शमअ जब रौशन हुई घर में उजाला कर दिया
तेरी महफ़िल से उठाता ग़ैर मुझको क्या मजाल
देखता था मैं कि तूने भी इशारा कर दिया

●

रंग सोने में चमकता है तरहदारी का

तरफ़ा आलम है तेरे हुस्न की बेदारी का
कट गया कै़द में माहे-रमज़ॉ भी 'हसरत'
गरचे सामान सहर का था न इफ़्तारी का

●

दिल को ख़याले-यार ने मख़्मूर कर दिया
साग़र को रंगे-बादा ने पुरनूर कर दिया
मानूस हो चला था तसल्ली से हाले-दिल
फिर तूने याद आके बदस्तूर कर दिया
गुस्ताख़दस्तियों का न था मुझमें हौसला
लेकिन हुजूमे-शौक़ ने मजबूर कर दिया
'हसरत' बहुत है मर्तबा-ए आशिक़ी बलन्द
तुझको तो मुफ़्त लोगों ने मशहूर कर दिया

●

हुजूमे-बेकसी को वजहे-लुत्फ़े-बेकराँ पाया
कि हमने आज उस नामेहरबाँ को मेहरबाँ पाया
सितम समझे हुए थे हम तिरी बे-एतनाई को
मगर जब ग़ौर से देखा तो इक लुत्फ़े-निहाँ पाया

●

वाए नाकामी न समझा कौन है पेशे-नज़र
मैं कि हुस्ने यार का महवे-तमाशा हो गया
बाद मुद्दत के मिले तो शर्म मुझसे किसलिए
तुम नए कुछ हो गए या मैं निराला हो गया
नौजवानी थी कोई शैदा न था मेरे सिवा
एक हुस्ने-कार का वो भी ज़माना हो गया

●

ज़ब्त से राज़े-मुहब्बत का छिपाना था मुहाल
शौक़ गर पिन्हाँ हुआ ग़म आशकारा हो गया
है ज़बाने.लखनऊ में रंगे-देहली की नमूद
तुझसे 'हसरत' नाम रौशन शायरी का हो गया

●

याद कर वो दिन कि तेरा कोई सौदाई न था
बावुजूदे-हुस्न तू आगाहे-रानाई न था
दीद के क़ाबिल थी मेरे इश्क़ की भी सादगी
जबकि तेरा हुस्न सरगर्म ख़ुदआराई न था

तूने 'हसरत' की अयाँ तहज़ीबे-रस्मे-आशिक़ी
उससे पहले ऐतबारे-शाने-रुसवाई न था

●

चल भी दिए वो छीन के सब्रो-क़रारे-दिल
हम सोचते ही रह गए ये माजरा है क्या

●

इक बर्क़े-तपाँ है कि तकल्लुम है तुम्हारा
इक सहर है लरज़ाँ कि तबस्सुम है तुम्हारा
देखे न हमें कोई मुहब्बत की नज़र से
क्या ख़ूब ये अन्दाज़े-तहक्कुम है तुम्हारा
अब उनसे कहो आरज़ू-ए-शौक़ न 'हसरत'
वो हुस्ने-बयाबाँ आज कहाँ गुम है तुम्हारा

●

जफ़ा-ए-यार पर छाया है इक आलम नदामत का
यही था मुद्दआ मेरी तमन्ना-ए-शहादत का
वो मेरे क़त्ल ही को आएँ लेकिन सामने आएँ
नतीजा कुछ तो निकले जज़्बो-तासीरे-मुहब्बत-का
यहाँ तो इक नई आबाद है दुनिया मुहब्बत की
कोई अन्दाज़ा क्या करता दिले-आशिक़ की वुसअत का
मैं खुद मजबूर हूँ इस दिल के हाथों क्या करूँ हसरत
निशाना सब मुझे नाहक़ बनाते हैं मलामत का

●

तुझ पे गिर्वीदा इक ज़माना रहा — कुछ फ़क़त मैं ही मुब्तिला न रहा
आपको अब हुई है क़द्रो-वफ़ा — जबकि मैं लायक़े-जफ़ा न रहा
जल्द सुन ली मिरे ख़ुदा ने मिरी — सब्र को शिकवा-ए-दुआ न रहा
हुस्न ख़ुद हो गया ग़रीब नवाज़ — इश्क़ मुहताजे-इल्तिजा न रहा
बस कि नज़्ज़ाराए-सोज़ था वो जमाल — होशे-नज़्ज़ारगी बजा न रहा
मिरे पहलू में दिल रहा जब तक — नज़रे-यार का निशाना रहा
हम भरोसे पे उनके बैठ रहे — जब किसी का भी आसरा न रहा
हो गए ख़त्म मुझ पे जौरे-फ़लक — अब कोई मूरिदे बला न रहा

जब से देखी अबल कलाम की नस्र
नज़्मे-हसरत में भी मज़ा न रहा

कुछ तो देना था हमें तेरे तग़ाफ़ुल का जवाब
बाख़ुदा बनके तुझे दिल से भुला देना था
दर्द मुहताजे-दवा हो यह सितम है यारब
जब दिया था तो कुछ इससे भी सिवा देना था
वो जो बिगड़े ख़फ़ा तुम भी हो गए क्यों हसरत
पाए-नख़वत पर सर शौक़ का झुका देना था

●

जब मैंने वफ़ा की थी वह क्यूँ न वफ़ा करते
ऐसा ही मुहब्बत का दस्तूर अगर होता
ज़ाहिर में जफ़ा करते बातिन में वफ़ा होती
सौ ढब से करम होता मंजूर अगर होता
कुछ दादे-वफ़ा, हसरत, हमको न मिली मिलती
दुनिया में यह अफ़साना मशहूर अगर होता

●

तुझको फ़ासे-वफ़ा ज़रा न हुआ हमसे फिर भी तिरा गिला न हुआ
ऐसे बिगड़े कि फिर जफ़ा भी न की दुश्मनी का भी हक़ अदा न हुआ
कट गई एहतियाते-इश्क़ में उम्र हमसे हज़हारे-मुद्दआ न हुआ
हुस्न की शान सादगी से बढ़ी तुर्रा-ए-ज़ुल्फ़ गिर्दो-ता न हुआ
खुम के खुम ग़ैर ले गए साक़ी हमको इक जाम भी अता न हुआ
मर मिटे हम तो मिट गए सब रंज यह भी अच्छा हुआ बुरा न हुआ
क़ाने-रंज इश्क़ था हसरत
ऐशे-दुनिया से आश्ना न हुआ

●

दो शौक़ से जो चाहो सज़ा जुर्मे-शौक़ की
ख़ुद मुझको ऐतराफ़ है अपने क़ुसूर का
दुनिया में मिली न हमें दाद सब्र की
इक आसरा अब और है रोज़े-नशूर का
सच है ज़रूर, पर मुझे आता नहीं यक़ीं।
हसरत, है सख़्त वाक़या मरना ज़हूर* का

●

कुछ भी हासिल न हुआ ज़ुहद से निख़वत के सिवा
शग़ल बेकार हैं सब उनकी मुहब्बत के सिवा

* सैयद ज़हूरुल हसन हसरत के भतीजे थे। उनका निधन दिसंबर, 1916 में हुआ था।

अहले-ज़ाहिर न करें कूचा-ए बातिन की तलाश
कुछ न पाएँगे वहाँ रंजो-मुसीबत के सिवा
इल्मो-हिकमत का जिन्हें शौक़ हो आएँ न इधर
कुछ नहीं फ़लसफ़ा-ए इश्क़ में हैरत के सिवा
सबसे मुँह मोड़ के राज़ी हैं तिरी याद से हम
इसमें एक शाने-फ़राग़त भी है राहत के सिवा
अक़्ल हैरान है, ऐ जाने-जहाँ राज़ तिरा
कौन समझे दिले-दीवाना-ए 'हसरत' के सिवा

●

मेरी जानिब से न शिकायत न तक़ाज़ा होता
ख़ुद मिरे घर वो चले आते कुछ ऐसा होता
रंग तेरी शफ़क़ जमाली का
इक नमूना है बे-मिसाली का
बिगड़ें हम भी जो हो लिहाज़ उन्हें
कुछ भी इस ख़तरा-ए ख़याली का
कुछ तो कर पास ऐ वफ़ा दुश्मन
लबे-हसरत की बे-सवाली का

●

आई जो उनकी याद मिरा दिल ठहर गया
दावा ग़मे-फ़िराक़ का बातिल ठहर गया
ख़्वाबो-ख़याल हो गईं अगली वो सोहबतें
फेरा भी उस नवाह का मुश्किल ठहर गया

●

उनमें देखा जो माजरा देखा
क्या बताएँ किसी से क्या देखा
हमने ग़ैरत को भी करम से तिरे
बारहा महवे-इल्तिजा देखा
हाल मेरा ख़राब है कि नहीं
आज तो आपने भी आ देखा
न बचा उस निगाहे-नाज़ से दिल
हमने सौ-सौ तरह छिपा देखा
ग़ैर जाना उन्हें सो क्यूँ 'हसरत'
इश्क़ को हुस्न से जुदा देखा

●

वो भी क्या दिन थे कि तू जलवा फ़रामोश न था
दीनो-दुनिया का मुझे तेरे सिवा होश न था
किस क़दर आम थी अरज़ानी-ए मय की शोहरत
अहदे-साक़ी में न था कोई जो मयनोश न था
पैरहन कोई उतारा न उन्होंने 'हसरत'
वो कि ख़ुश्बू-ए मुहब्बत हम आग़ोश न था

●

आपके हुस्ने-जहाँ सोज़ का जल्वा देखा
हमने घर फूँक के ख़ूब आज तमाशा देखा
हम न कहते थे ये लपका नहीं अच्छा 'हसरत'
ख़ाक में मिल के मुहब्बत का नतीजा देखा

मज़हबे-इश्क़ है परस्तिशे-हुस्न
हम नहीं जानते सवाबो-अज़ाब
है मिरे शौक़े-बेकराँ का शुमार
न तिरी शर्मे-ना रवाँ का हिसाब

●

हायल थी बीच में जो रज़ाई तमाम शब
इस ग़म से हमको नींद न आई तमाम शब
फिर भी तो ख़त्म हो न सकी आरज़ू की बात
हर चंद हमने उनको सुनाई तमाम शब
फिर शाम ही से क्यूँ वो चले थे छुड़ाके हाथ
दुखती रही जो उनकी कलाई तमाम शब
'हसरत' से कुछ वो आते ही ऐसे हुए ख़फ़ा
फिर हो सकी न उनसे सफ़ाई तमाम शब

●

ग़म को इस नौजवाँ से क्या निस्बत
फ़सले-गुल को ख़िज़ाँ से क्या निस्बत
इश्क़े-नाकर्दाकार को 'हसरत'
हुस्ने-दामनकशाँ से क्या निस्बत

●

करम भी तेरा यादगारे-वफ़ा था
तेरा जौर भी है निशाने-मुहब्बत

●

यूनान को मुद्दत से थी मोहान से निस्बत
शायद है मुझे भी इसी उनवान से निस्बत

●

वो बिगड़े बहुत बदगुमानी के बाइस
न तड़पे जो हम नातवानी के बाइस
ख़फ़ा आप क्यूँ हैं ख़ता मेरी क्या है
खुलें तो कुछ इस सरगरानी के बाइस

●

कुछ मेरे काम न आएगा तबीबों का इलाज
बे तिरे किससे हो बरगश्ता नसीबों का इलाज
क्या हुआ अगर न किया उसने दिल-ज़ार पे रहम
कौन करता है भला ऐसे ग़रीबों का इलाज़
अब तुम्हीं आओ तो शायद हमें सेहत नसीब हो
हो चुका खूब अज़ीज़ों की जेबों का इलाज़
हाले-दिल पहले ही अब्तर था और अब तो 'हसरत'
न अज़ीज़ों की दुआ है न तबीबों का इलाज

●

दिल भी राज़ी है कि आलूदा-ए फ़रियाद न हो
हम भी खुश हैं कि यही है ग़मे-पिन्हाँ की सलाह
ज़िंदगी दर्द पे मौक़ूफ़ है ऐ चारागरो
ये मेरी मौत के सामाँ है कि दरमाँ की सलाह
कैसे कह दूँ कि मैं अब भी न पियूँगा 'हसरत'
हुक्मे-नासेह तो नहीं साक़िए-दौराँ की सलाह

●

सब्र मुश्किल है ज़ब्त है दुश्वार
दिले वहशी है और जूनूँ बहार
ग़ैर मुम्किन है हमसे ताक़ते-ग़ैर

ऐ ग़रीब नवाज़, ऐ जफ़ाकार
रूह आज़ाद है ख़याल आज़ाद
जिस्मे - 'हसरत' की क़ैद है बेकार

●

छुप नहीं सकती छुपाने से मुहब्बत की नज़र
पड़ ही जाती है रूख़े-यार पर 'हसरत' की नज़र
हुस्न का राज़ न पोशीदा रहा है, न है
चाहने वाले रखते हैं क़यामत की नज़र
आसरा हम लगाए हुए बैठे हैं तेरा
इस तरफ़ भी कोई हो जाए इनायत की नज़र

●

हम तेरी याद को भूलेंगे न भूले हैं कभी
तू हमें भूल के भी याद न कर शाद न कर
यह भी हसरत कोई तदबीरे-सुकूँ है क्या खूब
दिले-बेताब से कहते हो उन्हें याद न कर

●

कूचा-ए यार में हैं सब यकसाँ
बादशाहो - गदा अमीरो - फ़क़ीर
नाला-ए दिल में था ग़ज़ब का असर
हिल गई जिससे अर्श की जंजीर
रूठकर अब वो मन चुके 'हसरत'
बन चुकी तुमसे वस्ल की तदबीर

●

कामयाबी जल्द होगी आके पाबोसे-उम्मीद
खेंच डालें और रंजे-इन्तिज़ार अबकी बरस
हुईं तर्के-.मुहब्बत को हुईं फिर ऐ अजब
यादें-यार आती हैं क्यूँ बे इख़्तियार अबकी बरस
वो सितमगर भी है अजीब कोई
कि हुई दिल को फिर उसी की हवस
फिरती रहती है आदमी को लिए

ख़्वार, दुनिया में आदमी की हवस
कर सकें भी तो हम फ़क़ीर तिरे
न करें ताजे-ख़ु सरवी की हवस
हिज्रे-साक़ी के दौर में 'हसरत'
अब न मय है न मयकशी की हवस

●

पोशीदा सुकूँ यास में है
इक महशरे-इज़्तिराब ख़ामोश
आज़ाद हैं क़ैद में भी 'हसरत'
हम दिल शुद गाने ख़ुद-फ़रामोश

●

सब हैं तिरी अंजुमन में बेहोश
नज़्ज़ारा-ए हुस्न का किसे होश
बेहोश किया है सबको तूने
अब जिस को खुदाए-होश पे होश
हम अर्सा-ए हश्र में भी 'हसरत'
पहचान गए उन्हें रहे-होश

●

हम चले थे कि करें दिलशिकनी का दावा
उनको देखा तो रहा कुछ भी न तावान का होश
ख़ूने-'हसरत' जो किया है तो वो नादिम हैं बहुत
कुछ न मेहंदी की ख़बर है न उन्हें पान का होश

वो तो कर दे मिरा क़ुसूर मुआफ़
मैं ही कहता नहीं हुज़ूर मुआफ़
हद नहीं मेरे गुनाहों की
फिर भी कर दे जो वो क़ुसूर मुआफ़
सादगी हम गुनाहगारों की
सब करा लाएगी क़ुसूर मुआफ़

●

महरूमे-तरब है दिलगीर अभी तक
बाक़ी है तेरे इश्क़ की तासीर अभी तक

सीखी थी जो आग़ोज़े-मुहब्बत में क़लम ने
बाक़ी है वो रंगीनी-ए तहरीर अभी तक

गुज़रे बहुत उस्ताद मगर रंगे-असर में
बे.मिस्ल है 'हसरत' सुखने-'मीर' अभी तक

●

महरूम है अब तक तिरे दीदार से हसरत
आँखों की ये पाबंदिए-आदाब कहाँ तक

●

दिल ख़ून हुए जाते हैं अरबाबे-नज़र के
रखती है क़यामत का तिरी सुर्ख़िए-लब रंग

'हसरत' तिरी इस पुख़्ता कलामी की है क्या बात
पाया है किसी और सुख़नवर ने ये कब रंग

●

बढ़ चला जोशे-आरज़ू 'हसरत'
ख़त्म होने को आई क़ैदे-फ़िरंग

अच्छा है, अहले-जौर किए जाएँ सख़्तियाँ
फैलेगी यूँ ही शोरिशे-हुब्बे-वतन तमाम

शीरीनी-ए नसीम है सोज़ो-गुदाज़े-मीर
'हसरत' तेरे सुख़न पे है लुत्फ़े-सुख़न तमाम

●

जुदाई की हद भी कोई है मुक़र्रर
रहें तुझसे ऐ याद कब तक जुदा हम

तेरा होके दिल अब न होगा किसी का
जो रखें किसी और का आसरा हम

जहाँ बँटती है बादशाही की दौलत
उसी दर के हैं एक 'हसरत' गदा हम

●

करें कुछ न हो जाएँ तुझपे फ़िदा हम
अब इसके भी लायक़ न ठहरेंगे क्या हम
ये बातें किसी की बनाई हुई हैं
बुरा तुझको किस दिल से कहते भला हम
निकल जाएँ केशे-मुहब्बत से 'हसरत'
जो चाहे कहीं दर्दे-दिल की दवा हम

●

करो कुछ तो इरशाद या ग़ौसुल आज़म
सुनो मेरी फ़रियाद या ग़ौसुल आज़म
कहाँ तक रहे दिल में 'हसरत' कि आख़िर
तमन्ना-ए बग़दाद या ग़ौसुल आज़म

●

आज तक याद हैं सदमे जो दिए थे तूने
ऐ सितमगर तेरी कसरते-अहसाँ की क़सम
सुनके इन्कार मिरा हिज्र में क्या किया 'हसरत'
साग़रे-मै ने दिलाई लबे-जानाँ की क़सम

●

अपनी ये सादगी कि दादे-वफ़ा
पाएँगे उस जफ़ा शुआर से हम
आशिक़ी हो कि शायरी 'हसरत'
फ़र्द निकले हर ऐतबार से हम

●

काम लूँ नाकामियों से इश्क़ का कहना करूँ
होके वाक़िफ़ लुत्फ़े-ग़म से रात-दिन रोया करूँ
वस्ल की शब भी हुई जाती है सर्फ़े-इज़्तिराब
इस हुजूमे-आरज़ू को या इलाही क्या करूँ
मुझसे तो तुम छुपने लगे अच्छा किया, यूँ ही सही
और जो मैं अब दीदा-ए दिल से तुम्हें देखा करूँ
उसके लुत्फ़े-बन्दा परवर का हूँ इक अदना ग़ुलाम
मेरी क्या ताक़त कि इश्क़े-यार का दावा करूँ

है यही शर्त वफ़ादारी की कि बे-चूनो-चरा
वो मुझे चाहे न चाहे मैं उसे चाहा करूँ

'हसरत' इस दौर आशना की आरजू आसाँ नहीं
दिल में पहले जब्ते ग़म का हौसला पैदा करूँ

●

ऐ तिलक, ऐ इफ़्तिख़ारे-ज़ज्बा-ए हुब्बे-वतन
हक़ शनासो-हक़ पसंदो- हक़ यक़ीनो-हक़ सुख़न

तुझसे क़ायम है बिना आज़ादी-ए बेबाक की
तुझसे रौशन है अहले-इख़्लासे-वफ़ा की अंजुमन

सबसे पहले तूने की बर्दाश्त ऐ फर्ज़े दे-हिंद
ख़िदमते-हिंदोस्ताँ में कुल्फ़ते-क़ैदे-मिहन

तूने ख़ुद्दारी का फूँका ऐ तिलक ऐसा फुसूँ
यक क़लम जिससे ख़ुशामद की मिटी रस्मे-कुहन

नाज़ तेरी पैरवी पर 'हसरते'-आज़ाद को
ऐ तुझे क़ायम रखे ता देर रब्बे ज़ुलमनन

●

मुझको दिखलाके राहे-कूचा-ए यार
किस ग़ज़ब में फँसा गईं आँखें

उसने देखा था किस नज़र से मुझे
दिल में गोया समा गईं आँखें

हाल सुनते वो क्या मिरा 'हसरत'
वो तो कहिए सुना गईं आँखें

●

अब तो आता है यही जी में कि ऐ महवे-जफ़ा
कुछ भी हो जाए मगर तेरी तमन्ना न करें

दर्दे-दिल और न बढ़ जाए तसल्ली से कहीं
आप इस काम का ज़िन्हार इरादा न करें

हाल खुल जाएगा बेताबिए-दिल का 'हसरत'
बार-बार आप उन्हें शौक़ से देखा न करें

●

हम बेकसों का आपको मुतलक़ न हो ख़्याल
आती नहीं ये बात हमारे क़यास में

बेताबियाँ निसार हैं जिस पर निगाह की
साक़ी झलक रही है वो क्या शै गिलास में

●

हम बेकसों को क़त्ल जो करता है बेगुनाह
कुछ ऐ अज़ीज़ तुझको खुदा का भी डर नहीं

पुरसिश है मेरे हाल की यारब जो रोज़े-हश्र
इतना भी अब ये क़िस्सा-ए ग़म मुख़्तसर नहीं

●

याद उन्हें वादा-ए विसाल नहीं
कब किया था यही ख़याल नहीं

ऐसे बिगड़े वो सुनके शौक़ की बात
आज तक हमसे बोलचाल नहीं

आप नादिम न हों, कि 'हसरत' से
शिकवा-ए ग़म का एहतिमाल नहीं

●

उस बुत के पुजारी हैं मुसलमान हज़ारों
बिगड़े हैं इसी कुफ़्र में ईमान हज़ारों

दुनिया है कि उनके रुख़ो-गेसू पे मिटी है
हैरान हज़ारों हैं परेशान हज़ारों

तनहाई में भी तेरे तसव्वुर की बदौलत
दिल बस्तगी-ए ग़म के हैं सामान हज़ारों

●

इक बार चले जाओ दिखाकर झलक अपनी
हम जलवा-ए पैहम के तलबगार कहाँ हैं

उस हुस्ने-नज़र सोज़ का है अब तो ये आलम
कहता है मेरे तालिबे-दीदार कहाँ हैं

●

हम जफ़ा से भी हैं राज़ी कि जफ़ा है तेरी

ग़ैर की तरह हमें शिकवा-ए तक़दीर नहीं

उनसे मिलना ख़ुदा साज़ हुआ है अपना
कामयाबी मिरी शर्मिन्दा-ए तदबीर नहीं

कौन क़ायल हो तेरे सिद्क़े-तलब का 'हसरत'
महफ़िले-यार में कुछ भी तिरी तौक़ीर नहीं

●

मेज़बानी तर्जुमाने-शौक़े-बेहद हो तो हो
वरना पेशे-यार काम आती हैं तक़रीरें कहीं

मिट रही हैं दिल से यादें रोज़गारे-ऐश की
अब नज़र काहे को आएँगी ये तस्वीरें कहीं

तेरी बेसब्री है 'हसरत' ख़ाम कारी की दलील
गिरिया-ए उश्शाक़ में होती हैं तासीरें कहीं

●

सब हमारी ज़िंदगी तक हैं उनके हौसले
वरना ये नाज़ों-ग़ुरूरे-दिलरुबाई फिर कहाँ

शर्त है एक बार पड़ जाना तुम्हारे इश्क़ में
इस तिलिस्मे-ग़म से उम्मीदे-रिहाई फिर कहाँ

लूट ले जी भरके 'हसरत' लज़्ज़ते-आग़ाज़े-इश्क़
इस सितमगर का ये रंगे-आशनाई फिर कहाँ

●

तुम्हें भी याद होगा वो ज़माना-ए ऐश माज़ी का
तमन्ना चाहती है फिर उसी लुत्फ़ शनासा को

निगाहें शौक़ में चमका दिया है और भी ज़ालिम
तिरे ज़ुल्मे-नुमायाँ ने तिरे हुस्ने खुद आरा को

छुपाए से कहीं आसार छुपते हैं मुहब्बत के
न दो इल्ज़ाम मेरे इज़्तिराबे आशकारा को

●

कुछ ग़ैर नहीं हम कि बिगड़ जाएँ जफ़ा से
इज़हारे मराआत की हाजत नहीं तुमको

घर से हर वक़्त निकल आते खोले हुए बाल

शाम देखो न मिरी जान सवेरा देखो
महफ़िले-ग़ैर में बे-पर्दा तुम्हें देख लिया
अब कभी हमसे, ख़बरदार, न छुपना, देखो
सामने सब के मुनासिब नहीं हम पर ये इताब
सर से ढल जाए न ग़ुस्से में दुपट्टा देखो
मर मिटे हम तो कभी याद भी तुमने न किया
अब मुहब्बत का न करना कभी दावा देखो
वादा-ए वस्ल को हँस-हँस के न टालो कल पर
तुमने फिर आज निकाला वही झगड़ा देखो
सर कहीं बाल कहीं हाथ कहीं पाँव कहीं
उनका सोना भी किस शान का सोना देखो
बात क्या है जो हुए जाते हो तुम यूँ ही ख़फ़ा
मुझको देखो न मिरे दिल का धड़कना देखो
हवसे-दीद मिटी है न मिटेगी 'हसरत'
देखने के लिए चाहो उन्हें जितना देखो

●

घटेगा तेरे कूचे में वक़ार आहिस्ता-आहिस्ता
बढ़ेगा आशिक़ी का ऐतबार आहिस्ता-आहिस्ता
मुहब्बत की जो फैली है ये नुकत बाग़े-आलम में
हुई है मुन्तशिर जो ख़ुशबू-ए यार आहिस्ता-आहिस्ता
मिलाकर ख़ाक में मुझको झुकी है शर्म से लेकिन
उठेगी फिर वो चश्मे-फ़ित्नाकार आहिस्ता-आहिस्ता
न रहेंगे वो 'हसरत' इंतिज़ारे-शौक़ में यूँ ही
गुज़र जायेंगे अय्यामे-बहार आहिस्ता-आहिस्ता
बेचारगी के ज़ोर हैं दौरे-फ़िराक़ में
दर्द अपने पास है तो दवा है तुम्हारे साथ
'हसरत' नहीं जो ख़ौफ़ तुम्हें कुछ भी मौत का
ये इश्क़ है कि आबे-बक़ा है तुम्हारे साथ

●

लाया है दिल पर कितनी ख़राबी

ऐ यार तेरा हुस्ने शराबी
पै रहन उसका है सादा रंगीन
या अक्से मय से शीशा, गुलाबी
इस फ़ैदे-ग़म पर कुरबाँ 'हसरत'
आली जनाबी कर दूँ रकाबी

●

दिल से अरबाबे वफ़ा का है भुलाना मुश्किल
हमने ये उनके तग़ाफ़ुल को सुना रक्खा है

तुमने बाल अपने जो फूलों में बसा रक्खे हैं
शौक़ ने और भी दीवाना बना रक्खा है

हुस्न को जौर से बेगाना न समझो कि इसे
ये सबक़ इश्क़ ने पहले ही पढ़ा रक्खा है

तेरी निस्बत से सितमगर तिरे मायूसों ने
दाग़े हिरमाँ को भी सीने से लगा रक्खा है

इसका अंजाम भी कुछ सोच लिया है 'हसरत'
तूने रब्त उनसे जा इस दर्जा बढ़ा रक्खा है

●

मग़मूम न हो ख़ातिरे-हसरत कि तिलक तक
पैग़ामे-वफ़ा बादे-सहर ले के गई है

●

है मश्क़े-सुख़न जारी चक्की की मशक़्क़त भी
इक तरफ़ा तमाशा है 'हसरत' की तबीअत भी

जो चाहे सज़ा दे लो तुम और भी खेल खेलो
पर हमसे क़सम ले लो की हो जो शिकायत भी

खुद इश्क़ की गुस्ताख़ी सब तुझको सिखा लेगी
ऐ हुस्ने-हया परवर शोख़ी भी शरारत भी

बरसात के आते ही तौबा न रही बाक़ी
बादल जो नज़र आए बदली मिरी नीयत भी

है शादो-सफ़ी शायर या शौक़ो-वफ़ा 'हसरत'
फिर ज़ामिनो-महशर हैं इक़बाल भी वहशत भी

●

न छोड़ा मरते दम तक साथ बीमारे-मुहब्बत का
क़सम खाने के क़ाबिल है तेरे ग़म की वफ़ादारी

न उनको रहम आता है न मुझसे सब्र है मुमकिन
कहीं आसान हो या रब मुहब्बत की ये दुश्वारी

'नसीम देहलवी' को वज्द है फ़िरदौस में 'हसरत'
जज़ाकल्लाह तेरी शायरी है या फ़ुसूँकारी

●

या रब हमारे बाद भी बज़्मे शराब में
साक़ी के दम से दौरे-मय अरग़वाँ रहे

महरूमिए-वफ़ा से आया यक़ीने-लुत्फ़
वो मेहरबाँ हुए भी तो हम बदगुमाँ रहे

दिलचस्प किस क़दर था क़िस्सा-ए वफ़ा
जब तक हुआ बयाँ वो महवे-बयाँ रहे

'हसरत' रवादारी में भी इतना रहे ख़याल
अशआर में नसीम का रंगे-बयाँ रहे

●

मरके हम ख़ाके-राहे-यार हुए
सुरमा-ए चश्मे-ऐतबार हुए

ज़ब्ते-ग़म तक हैं ज़िंदगी में
मर मिटेंगे जो बेक़रार हुए

मेरी महरूमियों की हद न रही
तेरे अहसान बेशुमार हुए

क्यूँ है बेकार जुस्तजू 'हसरत'
वो न होंगे न वो दो-चार हुए

●

ग़मे-ज़माना से दिल को फ़राग़ बाक़ी है
हनोज़ उनकी मुहब्बत का दाग़ बाक़ी है

दिले-फ़सुर्दा-ए-'हसरत' में अब वो बात कहाँ
शराबे-जोश का ख़ाली अयाग़ बाक़ी है

●

हम क़ौल के सादिक़ हैं अगर जान भी जाती
वल्लाह कभी ख़िदमते-अंग्रेज़ न करते

●

वो बिगड़े बैठे हैं इस पर कि हमको क्यूँ चाहा
हुई भी गर तौबा साबित हुई ख़ता मेरी

●

मस्ती के फिर आ गए ज़माने
आबाद हुए शराब ख़ाने

हर फूल चमन में ज़र बकफ़ है
बाँटे हैं बहार ने ख़ज़ाने

रिन्दों ने पछाड़कर पिला दी
वाइज़ के न चल सके बहाने

बेगाना-ए मय किया है मुझको
साक़ी की निगाहें-आशना ने

अब काहे को आएँगे वो 'हसरत'
आग़ाजे-जुनूँ के फिर ज़माने

उन्हें सवाल मेरा नागवार होता है
मुझे ख़याल यही बार-बार होता है

ये माजरा भी है दुनिया-ए आशिक़ी में नया
कि नामुराद यहाँ कामगार होता है

●

ख़ामोशियों का राज़ मुहब्बत वो पा गए
गो हम से अर्ज़े-हाल की जुरअत न हो सकी

क्यूँ इतनी जल्दी हो गए घबरा के हम फ़ना
ऐ दर्दे-यार कुछ तिरी ख़िदमत न हो सकी

उनसे मैं अपने दिल का तक़ाजा न कर सका
ये बात थी ख़िलाफ़े-मुरव्वत, न हो सकी

'हसरत' तिरी निगाहें-मुहब्बत को क्या कहूँ
महफ़िल में रात उनसे शरारत न हो सकी

●

शबे-हिज्र क्यूँकर कटेगी जो या रब
तसव्वुर की राहत फ़ज़ाई न होगी
बग़ैर उनके दम भर नहीं चैन दिल को
कभी उनसे गोया जुदाई न होगी
रहे-इश्क़ से रौज मानूस होकर
अब इस दामे-ग़म से रिहाई न होगी
सितम करके नाहक़ वो नादिम हैं 'हसरत'
कि हम से कभी बेवफ़ाई न होगी

●

हसीनों में आज एक तुम सा नहीं है
ख़ुशामद फक़ीरों का शेवा नहीं है

●

किस क़दर दुश्वार थी हम पर जुदाई आपकी
बारे फिर अल्लाह ने सूरत दिखाई आपकी
भूल बैठे थे इलाही क्या करें इस दिल को हम
हिज्र में फिर याद जिस दिल ने दिलाई आपकी

●

मुझसे ऐ दिल उन्हें गिला न रहे
तू रहे बरक़रार या न रहे
उन से क्या तुमने कह दिया 'हसरत'
कि वो अब माइले-जफ़ा न रहे

●

तकल्लुफ़ से कर ऐ जाने-महफ़िल
मुझ ही से तेरा शरमाना बुरा है

●

हसरत की चंद आरंभिक ग़ज़लों का चयन, जो मोहान, फ़तेहपुर और अलीगढ़ में छात्र-जीवन के दौरान (1894 से 1903 ई. तक) लिखी गई थीं, प्रस्तुत है :

आवारगी पसंद है सहराए-शौक़ की
तालिब नहीं ख़ुदा से मैं अक़्ले-सलीम का
हद से न बढ़ चले तेरी ग़फ़लत-शुआरियाँ

कर कुछ तो पास मेरी वफ़ाए-क़दीम का
हाजत नहीं कि उससे करूँ अर्ज़े-आरज़ू
बंदा हूँ मैं ख़ुदाए-करीमो-हलीम का
'हसरत' मुझे पसंद नहीं तर्ज़े-लखनऊ
पैरव हूँ शायरी में जनाबे तसलीम का

●

न होगी शफ़ा चारागर देख लेना
न जायेगा दर्दे-जिगर देख लेना
वो शरमाए बैठे हैं गर्दन झुकाए
ग़ज़ब हो गया इक नज़र देख लेना
वो शरमाई सूरत वो नीची निगाहें
वो भूले से उनका इधर देख लेना
कहाँ हम कहाँ वस्ले-जानाँ की 'हसरत'
बहुत है उन्हें इक नज़र देख लेना

●

हुक्म पर उनके जान देता हूँ
मैं नहीं जानता क़ज़ा क्या है
मैं तो रोने पर ख़ुद हूँ आमादा
ऐ ग़मे-यार छेड़ता क्या है

●

हो जफ़ा हम पे न हम शिकवा-ए बेदाद करें
ता कुजा ख़ातिर बेरहमी-ए सय्याद करें

●

दीवाना कर दिया है ये किसी आरज़ू ने
चरचा है किस सनम का हर शैख़ो-बिरहमन में

●

उधर जुर्मे-मुहब्बत पर वो बरहम होते जाते हैं
इधर दिल में तमन्ना-ए शहादत बढ़ती जाती है

●

बहार आई है साक़ी बादा-ए गुलकूँ पिलाना भी
कहाँ की पारसाई, कैसी तौबा, जाम लाना भी

●

संक्षिप्त जीवन-परिचय

नाम :	सैयद फज़लुल हसन।
उपनाम :	हसरत।
जन्म स्थान :	मोहान, जिला उन्नाव।
जन्मतिथि :	1298 हिजरी अर्थात् 1881 ई.।
पिता का नाम :	सैयद अज़हर हसन वल्द सैयद मेहरुल हसन।
माँ का नाम :	शहर बानो वल्द नियाज़ हसन।
भाई :	सैयद रूहुल हसन, सैयद करीमुल हसन, सैयद मुबीनुल हसन।
बहनें :	सलीमतुन्निसा, नसीबतुन्निसा, मुनीबतुन्निसा।
शौक़ :	तैराकी और पतंगबाज़ी।
आरंभिक शिक्षा :	मकतब से मिडल तक मोहान में शिक्षा प्राप्त की। मिडल की एक परीक्षा मोहान से दी और दूसरी छलोतरे से, और दोनों में प्रथम रहे।
माध्यमिक शिक्षा :	1898 में गवर्नमेंट हाई स्कूल, फ़तेहपुर से मैट्रिक परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की।
उच्च शिक्षा :	1903 में अलीगढ़ से बी.ए. की डिग्री ली।
विवाह :	पहला विवाह 1901 में निशातुन्निसा बेगम वल्द शब्बीर हसन मोहानी से हुआ। उनका निधन 1937 में कानपुर में हुआ। दूसरा विवाह 1938 में में हबीबा बेगम से किया।
संतान :	पहली बीवी से एक लड़की नईमा 1907 में पैदा हुई। दूसरी से भी लड़की 1939 में पैदा हुई। उसका नाम खालिदा है।
गुरुजन :	**1. मोहान** : मियाँ जी ग़ुलाम अली। **2. फ़तेहपुर** : मौलाना सैयद ज़हूरुल इस्लाम, मौलाना, नूर मुहम्मद, मौलाना हबीबुद्दीन, मुहम्मद अमीर खाँ (नियाज़ फ़तेहपुरी के पिता)। **3. अलगीढ़** : आफ़ताब अहमद खाँ, डॉ. ज़ियाउद्दीन अहमद, मौलाना ख़लील अहमद इसराइली, प्रो. जे. सी. चक्रवर्ती।

पत्रकारिता :	जुलाई, 1903 में अलीगढ़ से **उर्दू-ए मुअल्ला** जारी किया। त्रैमासिक पत्र **तज़किरतुश्शुअरा** निकाला जो 1920 में बंद हो गया। **अखबारे-मुस्तकिल** 1928 में जारी किया। जनवरी, 1932 से यह मासिक बन गया और 1936 से यह **उर्दू-ए मुअल्ला** के साथ परिशिष्ट के बतौर छपने लगा।
राजनीतिक जीवन :	छात्र-जीवन से ही राजनीति में रुचि थी। 1903 से राजनीतिक लेख लिखने लगे। 1904 से राजनीतिक मैदान में कूद पड़े। कई बार जेल गए, यातनाएँ झेलीं। यू.पी. असेम्बली और केंद्रीय संविधान सभा के सदस्य चुने गए।
स्वदेशी आंदोलन :	अलीगढ़ में **ख़िलाफ़त स्टोर लिमिटेड** क़ायम किया।
शायरी का आरंभ :	छात्र-जीवन से ही शायरी में रुचि लेने लगे। 1893 में पहली ग़ज़ल प्रकाशित हुई।
शायरी में गुरु :	अमीरुल्लाह तसलीम लखनवी।
शिष्यगण :	शफ़ीक़ जौनपुरी, शफ़क़त काज़मी।
हज :	ग्यारह हज किए। पहला 1932 में किया और आख़िरी 1950 में किया। दोनों बीवियों को कई बार हज कराए।
निधन :	13 मई, 1951 को लखनऊ में देहांत।

हसरत मोहानी का कृतित्त्व

कृति	प्रकाशक	प्रकाशन वर्ष
1. अरबाबे-सुख़न (दो भाग)	रईसुल मताबे, कानपुर	1939
2. इंतिख़ाबे-सुख़न (ग्यारह खण्ड)	उर्दू प्रैस, अलीगढ़	विभिन्न वर्ष
3. इंतिख़ाबे-अशरफ़	उर्दू प्रैस, अलीगढ़	1912
4. इंतिख़ाबे-जुरअत	उर्दू प्रैस, अलीगढ़	1912
5. इंतिख़ाबे-ह्रातिम	अहमदुल मताबे, कानपुर	1925
6. इंतिख़ाबे-सोज़	अहसनुल मताबे, अलीगढ़	1905
7. इंतिख़ाबे-क़ायम	अहसनुल मताबे, अलीगढ़	1905
8. इंतिख़ाबे-मुसहफ़ी	अहसनुल मताबे, अलीगढ़	1905
9. इंतिख़ाबे-मीर हसन	उर्दू प्रैस, अलीगढ़	1911
10. दीवाने-शेफ़्ता (संपूर्ण)	अहसनुल मताबे, अलीगढ़	1905
11. दीवाने-ग़ालिब (टीका के साथ)	उर्दू प्रैस, अलीगढ़	1911
12. मतरूकाते-सुख़न	रईसुल मताबे, कानपुर	1941
13. महासिने-सुख़न	रईसुल मताबे, कानपुर	1940
14. मआइबे-सुख़न	रईसुल मताबे, कानपुर	1941
15. नवादिरे-सुख़न	रईसुल मताबे, कानपुर	1935
16. कुल्लियाते हसरत, मुकम्मल (प्रस्तावना : जमाल मियाँ)	कमाल प्रिंटिंग प्रैस, दिल्ली	1959
17. कैदे-फ़िरंग (नई तरतीब के साथ)	मकतबा नया राही, कराची	1958
18. मुशाहिदाते-ज़िंदाँ	इश्तिराकी प्रैस, दिल्ली	—
19. नुकाते-सुख़न	इंतिज़ामी प्रैस, हैदराबाद	—

हसरत के पत्र व अख़बार

1. 'उर्दू-ए मुअल्ला' (जुलाई, 1903 में अलीगढ़ से प्रकाशित)
2. इंतिख़ाबे-उर्दू-ए मुअल्ला (अप्रैल, 1908 तक के अंकों से चयन)
3. तजकिरतुश्शुअरा (त्रैमासिक पत्र, 1920 में बंद हो गया)
4. मुस्तकिल (अख़बार, 1928 में जारी हुआ; जनवरी, 1932 से मासिक हुआ। 1936 से 'उर्दू-ए मुअल्ला' के साथ परिशिष्ट के रूप में छपने लगा)।

हसरत मोहानी पर प्रकाशित पुस्तकें

1. **इंतिख़ाबे-हसरत,** सं. जलील क़िदवाई, उर्दू अकादेमी सिंध, कराची, 1953
2. **इंतिख़ाबे-कलामे-हसरत,** सं. मसूदुल हसन सिद्दीक़ी, हाली पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1960
3. **बेगम हसरत मोहानी और उनके ख़ुतूत,** मुहम्मद अतीक़ सिद्दीक़ी, मकतबा जामिआ, दिल्ली, 1981
4. **तज़किरतुश्शुअरा,** सं. डा. अहमद लारी अदबिस्तान, गोरखपुर
5. **हालाते-हसरत,** आरिफ़ हसवी, अंजुमने-इआनते-नज़रबंदाने-इस्लाम, दिल्ली
6. **हसरत सियासत दाँ और हसरत शायर,** हबीबुर्रहमान सिद्दीक़ी
7. **हसरत की याद में,** अब्दुल्लाह वली बख़्श क़ादरी, इदारा-ए तसनीफ़ो-तालीफ़, इलाहाबाद, 1952
8. **हसरत से फ़िराक तक** (उर्दू के क्लासिकी शुअरा, खंड-3) एम. हबीब ख़ान, अलीगढ़ से प्रकाशित, 1962
9. **हसरत मोहानी** (तीसरा संस्करण), प्रिंसिपल अब्दुल शकूर, अनवार, बुक डिपो, लखनऊ, 1953
10. **हसरत की सियासी ज़िंदगी की कुछ झलकियाँ,** अब्दुल क़वी दस्नवी, हलक़ा-ए अहबाब, पटना
11. **हसरत की शायरी** (चौथी आवृत्ति), डॉ. यूसुफ़ हुसैन खाँ, मकतबा जामिआ, दिल्ली, 1980
12. **हसरत मोहानी की कहानी, नईमा की ज़बानी,** नईमा बेगम, सई आर्ट प्रेस, हैदराबाद, सिंध
13. **हसरत मोहानी, हयात और कारनामे,** डॉ. अहमद लारी, अदबिस्तान, गोरखपुर, 1973
14. **मुताला-ए हसरत,** अता काकवी, अज़ीमुश्शान बुक डिपो, पटना, 1966
15. **मौलाना हसरत मोहानी** (प्रथम भाग : ज़ाती ज़िंदगी) इश्तियाक़े अज़हरो-नुसरत मोहानी, हसरत मेमोरियल सोसाइटी
16. **हसरत मोहानी क़ैदे-फ़िरंग में,** मुहम्मद अतीक़ सिद्दीक़ी, अंजुमन तरक़्क़ी-ए उर्दू (हिंद), दिल्ली, 1981

पत्रिकाओं के हसरत विशेषांक

1. उर्दू अदब, अलीगढ़ सं. प्रो. आले अहमद सुरूर, 1951
2. उर्दू अदब, दिल्ली, सं. ख़लीक अंजुम, 1981
3. अकादेमी, लखनऊ, सं. अली जव्वाद ज़ैदी, 1981
4. निगार, लखनऊ, सं. नियाज़ फ़तेहपुरी, 1952
5. निगार, कराची, सं. डॉ. फ़रमान फतेहपुरी, 1976

हसरत मोहानी